हमारी-उलझन

श्री भगवती चरण वर्मा

ग्रन्थ संख्या १२४
प्रकाशक और विक्रेता
भारती भंडार
लीडर प्रेस, इलाहाबाद।

प्रथम संस्करण
संवत् २००४
मू० १॥)

मुद्रक
सदाशिवराव चितले
आदर्श प्रेस,
बनारस।

विषय-सूची

ईश्वर

लोग मुझसे अकसर पूछा करते हैं, "क्या तुम्हें ईश्वर पर विश्वास है ?"

मैं नहीं जानता कि मैं उन्हें क्या उत्तर दूँ। मैंने कभी इस प्रश्न पर सोचा नहीं, सोचने की आवश्यकता भी तो नहीं समझी।

मुझ पर मुसीबतें पड़ीं, ऐसी मुसीबतें जिनकी कल्पना करने से ही हृदय काँप उठता था। लेकिन जब वे मुसीबतें सर पर आईं तब मैंने यह अनुभव किया कि वे मुसीबतें कुछ भी नहीं हैं। नित्य ही घटित होने वाली साधारण घटनाओं की भाँति वे मुसीबतें भी आईं और चली गईं। लोगों का कहना है कि मुसीबतों के समय खुदा याद आता है, पर मैं यक़ीन दिलाता हूँ कि उन मुसीबतों के समय भी मैंने ईश्वर के विषय में कुछ नहीं सोचा।

इस सब का कारण शायद यह था कि उस समय मेरे हृदय में उत्साह का उन्माद था, जवानी का जोश था और उज्वल भविष्य की एक कल्पना थी।

× × ×

पर आज मैं ही अपने से पूछ रहा हूँ, "क्या तुम्हें ईश्वर पर विश्वास है ?"

आज जब मैं जिन्दगी की कल्पनाओं को देखते देखते निराश-सा हो रहा हूँ, आज जब मैं थका और हारा सा वर्तमान के प्रति ज़बर्दस्ती आँखें बन्द करके विगत पर मनन करता हूँ, भविष्य की कल्पना करता हूँ, तब मैं अनायास अपने से पूछ उठता हूँ, "क्या तुम्हे ईश्वर पर विश्वास है ?"

मैं देख रहा हूँ कि पहले मुझमें अनुभवों की कमी थी, और इसलिए अपने अन्दर वाली नेकी के कारण मुझे नेकी पर विश्वास था। उन दिनों मैने लोगो से भले ही कह दिया हो कि मुझे ईश्वर पर विश्वास नहीं, पर इतना जानता हूँ कि नेकी और सुन्दरता पर मुझे विश्वास था और इसलिए मुझे ईश्वर पर विश्वास था। वह विश्वास मेरे अन्दर जड़ जमाए बैठा था और इसलिए मुझे कभी सोचने की या यों कहिये कि उस विश्वास पर फिर से ग़ौर करने को ज़रूरत ही नहीं पड़ी। जब-जब मैने यह कहा कि मुझे ईश्वर पर विश्वास नहीं तब तब मेरा मतलब उस ईश्वर से था जो देवालयों में पूजा जाता है।

पर आज जब दुनिया की कुरूपताओं का मुझे अनुभव हुआ, आज जब नेकी पर मेरा विश्वास डिगने लगा है तब यह प्रश्न मेरे सामने खड़ा हो ही गया है। आज मुझे इस प्रश्न का उत्तर पाना ही है कि क्या ईश्वर है; आज अपने विश्वास वाले ईश्वर के नष्ट हो जाने के बाद उसके स्थान पर बुद्धि द्वारा ईश्वर को स्थापित किया जा सकता है ?

इस स्थान पर मेरे लिए सबसे पहले आवश्यक होगा

ईश्वर के रूप को समझ लेना—दूसरों के वास्ते नहीं बल्कि अपने वास्ते।

हम बनते हैं—तो हमे बनाने वाला भी कोई होगा! जो हमें बनाने वाला है वही ईश्वर है—यह मैं माने लेता हूँ।

हम मिटते हैं—तो हमें मिटाने वाला भी कोई होगा। जो हमें मिटाने वाला है, वही ईश्वर है—यह भी मैं माने लेता हूँ।

पर इस बनाने और मिटाने वाले ईश्वर पर विश्वास करने अथवा अविश्वास करने से होता क्या है? हम बनने और मिटनेवालों को उस बनाने और मिटाने वाले से क्या सरोकार? हमें तो सरोकार इस बात से है कि वह हमे क्यों बनाता है और क्यों मिटाता है?

कलाकार एक चित्र बनाता है, और चित्र में अपूर्णता होने पर वह उस चित्र को मिटा देता है—इसके बाद वह फिर उस चित्र को बनाता है। और चित्र का मिटना-बनना उस समय तक जारी रहता है जब तक चित्र पूर्व रूप से न बन जाय।

चित्र और मनुष्य में भेद केवल इतना है कि जहाँ चित्र निर्जीव है वहाँ मनुष्य सजीव है; जहाँ चित्र स्वयं बन-बिगड़ नहीं सकता वहाँ मनुष्य अपनी बुद्धि द्वारा स्वयं बन-बिगड़ सकता है।

और चाहे हम स्वयं बनने-बिगड़ने वाले ईश्वर हों या हमें बनाने अथवा बिगाड़ने वाला ईश्वर कोई दूसरा हो, हम इतना जानते हैं कि हमें बनकर और बिगड़कर सम्पूर्ण बनना है।

हम सम्पूर्ण बनने वाले मानव हैं ! पुनर्जन्म पर विश्वास के अनुसार में अनेक जन्मो में आधाकर हमे सम्पूर्ण बनना है ; या हम सम्पूर्ण बनने वाले समाज के नश्वर भाग हैं और विकास के क्रम में हमें सहयोग देते रहकर, समाज को सम्पूर्ण बनाने का हमें प्रयत्न करना है—यह एक ही बात है। हम इतना जानते है कि हमे सम्पूर्ण बनना है।

और मै समझता हूँ कि सम्पूर्ण ही ईश्वर है। सम्पूर्णता सत्य है, सम्पूर्णता सुन्दर है, सम्पूर्णता कल्याण है। जो अपूर्ण है वही कुरूप है, जो कुरूप है वही मिथ्या है, जो मिथ्या है वही अकल्याणकारी है।

सत्य, शिव और सुन्दर यह तीनो सम्पूर्णता की इकाई के तीन पहलू है।

और हमारी जिन्दगी की कुछ न कुछ सार्थकता तो होनी ही चाहिए। आज तक निरर्थक मैने किसी काम को नहीं देखा—हर काम के पहले एक कारण रहा करता है। इस सृष्टि का कारण, जहाँ तक मै कल्पना कर सकता हूँ, सम्पूर्णता प्राप्त करना है।

× × ×

लोग उन तकलीफो की तरफ इशारा करते हुए जिनसे वे दुखी हैं, जिन्हें अपनी नेकी से वे दूर नहीं कर सकते, मुझसे कहते है कि नेकी पर विश्वास करना व्यर्थ है। वे ऐसे अनगिनती आदमियो का हवाला देते हैं जो सुखी है, सम्पन्न है,

वैभव वाले है लेकिन जिनमे नेकी का नाम नहीं। उनका कहना है कि बिना बेईमानी किये, बिना शैतान को आत्म समर्पण किये कोई आदमी लखपती या करोड़पती नहीं बन सकता, लखपती एवं करोड़पती आदमी भी—चाहे जितना पतित या कलुषित वह क्यों न हो—हर समाज मे इज्जत होती है, हर क्षेत्र मे वह पूजा जाता है।

वे लोग ग़लत नहीं कहते—मैं जानता हूँ। मैं अपने चारों तरफ देखता हूँ और हर जगह लूट का बाज़ार गरम है। लूटने वाले हँसते हैं, मौज करते हैं। अभी उसी दिन एक सज्जन ने बहुत गम्भीरता पूर्वक मुझसे कहा था, "अगर सुखी रहना चाहते हो तो पैसा पैदा करो, अगर पैसा पैदा करना है तो शैतान बनो! अपनी नेकी से तुम भूखे ही मरोगे!" और उन्होंने भी यह बात अपने अनुभवों से ही कही थी। जो जितना अधिक मालदार है वह उतना ही अधिक शैतान है!

लेकिन इसी वक्त मुझे ईश्वर की जरूरत पड़ जाती है। इस वक्त जब विश्वास मिट गया है, जब कुरूप वास्तविकता ने मेरी कल्पना को कुचल दिया है तब मुझे अपने को साहस देने वाले ईश्वर की बहुत बड़ी जरूरत है जो मुझे सही रास्ता दिखलावे।

मेरे अनुभवों ने बतलाया है कि सुख दुख एक मानसिक स्थिति है। रूखा सूखा खाना खाने वाले किसान और तरह तरह के व्यंजन खाने वाले रईस के भोजन के बाद वाले सन्तोष में मैं तो कोई अन्तर नहीं देख पाता। सीधी बात यह है कि

हरेक आदमी अपने सुख का एक केन्द्र बना लेता है। मैंने ऐसे करोड़पति देखे हैं जो एक चिथड़ा मिजई पहनकर और साग-पात खाकर जिन्दगी पार कर देते हैं।

और मैं सोच रहा हूँ--हम पैसा पैदा करना ही क्यों चाहते हैं? हमें केवल उतने पैसे चाहिये जितनों से हमारी आवश्यकताएँ पूरी हो जायँ। आखिर क्या ज़िन्दगी का ध्येय पैसा ही पैदा करना है? हम भलेही अठमहले महल बना लें, हम भलेही मजदूरों का पेट काटकर। उनकी कमाई उनसे छीनकर, उनके पैसों का अपना कहकर मिलों पर मिले बनाते चले जॉय, हम भले इलाकों पर इलाके खरीद लें—हमें मरना ज़रूर है। और यह सब जो कुछ हमने दूसरों को सताकर, दूसरों का अभिशाप अपने सर पर लादकर एकत्रित किया है, यहीं का यहीं रह जायगा। और क्या यह जमा जमा अपनो सन्तानों के लिए छोड़कर हम अपनी सन्तानों का कुछ भला कर सकेंगे?

यहाँ भी मुझे ऐसा लगता है कि जहाँ हमारा कतव्य है कि हम अपने बच्चों को धर्मज्ञ बनावें, उन्हें ऐसी शिक्षा दें कि वे नेक बनें, वे अपने को विकसित करके दुनिया के विकास में सहायता दे सकें, हम करते यह हैं कि हम उत्पीड़न की शैतानियत और वैभव की पशुता उन बच्चों के लिए वसीयत के रूप मे छोड़ जाते हैं। एक बार मेरे एक मिलने वाले ने मजाक-मजाक में मुझसे एक बात कही थी, और कहने के समय शायद उन्हें स्वयं यह न मालूम था कि कितना बड़ा सत्य वे कह रहे हैं। वे

सज्जन ताल्लुकदारों के खानदान के हैं और उन्होंने ताल्लुकदारों के व्यर्थ का जिक्र करते हुए कहा था, "अगर मैं ताल्लुकदार होता तो अपने ताल्लुके पर दस पाँच लाख का क़र्ज अवश्य छोड़ जाता। इसी हालत में मेरे लड़के को ताल्लुका पाते ही इस बात को चिन्ता होती कि यह कर्ज़ कैसे अदा किया जाय। और मेरा लड़का आरम्भ से ही मुसीबतों में पड़कर नेक बनता। जो ताल्लुकदार मरने के वक्त दस-पाँच लाख रुपया नक़द छोड़ते हैं वे मानो अपने लड़कों को वसीयत कर जाते हैं कि "इस रुपए से वेश्यागमन करो, शराब पियो और इस प्रकार सदा के लिए अपनी जिन्दगी नष्ट कर लो!"

मैंने अकसर पैसा पैदा करने के लिए अपनी मनुष्यता को बेंचने के लिए उत्सुक आदमी से पूछा है, "तुमने इतने गिरे हुए कार्य-क्रम को अपना आदर्श क्यों मान रक्खा है?"

लेकिन मैं जानता हूँ कि लोगों से मेरा यह प्रश्न बेकार ही था। इसका एकमात्र कारण यह है कि लोगों के सामने अभी तक कोई आदर्श भी तो नहीं है। 'सामने' से मेरा मतलब 'समझ में' से है। लोगों को जिन्दगी की सार्थकता का पता नहीं, वे तो जिन्दगी की सार्थकता अपने को दूसरों से पृथक करके अच्छा खाने में, अच्छा पहनने में, अच्छे मकानों में रहने में, अच्छी सवारियों पर चढ़ने में और दूसरों द्वारा आदर पाने मे समझते हैं। इस सबके लिए धन चाहिये, और इसी लिए धन के पिशाच

ने लोगो को बुरी तरह जकड़ लिया है। इस धन के पिशाच के हाथ में लोगों ने अपनी आत्मा बेंच दी है।

मैंने लोगों को भोर सुबह से आधी रात तक टेलीफ़ोन के पास बैठे रहकर सट्टा करते देखा है। उन लोगों ने ज़िन्दगी का केवल एक रस जाना है—पैसे की हाय! वे लोग जीवन के आदर्शों से कितना गिर गए हैं।

आज हमें जीवन के वास्तविक आदर्श को, अपने जीवन की सार्थकता को पाना पड़ेगा। बिना जीवन की सार्थकता को समझे हमारा कल्याण नहीं। और जीवन की सार्थकता को समझना ही ईश्वर पर विश्वास करना है।

वह ईश्वर जो हमारे दिनभर के पापों को संध्या के समय हमारी ज़रा सी खुशामद से क्षमा कर देता है, वह ईश्वर जो हमारे जीवन भर के कुकृत्यों को हमारी तीर्थयात्रा अथवा गंगा-स्नान से धो देता है, वह ईश्वर जो मन्दिरों में बैठकर प्रसाद चढ़वाता है, घण्टे बजवाता है, मैं उस ईश्वर की बात नहीं करता। उस ईश्वर पर मैंने अभी तक विश्वास नहीं किया, कर भी नहीं सकता। मुझे तो विश्वास करना है उस ईश्वर पर जो मेरी मानवता का स्वरूप है, जो मुझे अपने विश्वास में सहायता दे सके।

और मैं आज स्वयं अपने को ही उत्तर दे रहा हूँ—मुझे ईश्वर पर विश्वास है। बिना विश्वास के जीवन लक्ष्यहीन है, विश्वास पर क़ायम रहकर ही तो हम आगे बढ़ सकते हैं। हमें

इस बात की आवश्यकता नहीं कि हम वेदों, शास्त्रों, पुराणों का अध्ययन करें, हमें इस बात की आवश्यकता नहीं कि हम माया-ब्रह्म के भेद-भाव को समझें, द्वैत, अद्वैत, शुद्धाद्वैत, विशिष्टाद्वैत से मुझे कोई सरोकार नहीं।

मुझे तो दुनिया के दुःख दर्द को देखना है। मुझे अपने को इतना अधिक विकसित करना है कि सारी दुनिया के दुख-दर्द को मैं अपना ही समझने लगूँ। मुझे ईश्वर पर विश्वास करते-करते स्वयं ही ईश्वर बन जाना है।

परिग्रहण और दान

एक पडाल में एक तख्ती पर लिखा था—"परिग्रहण पाप है, दान उसका प्रायश्चित्त है!" वह वाक्य पढ़कर मैं असमंजस में पड़ गया।

मेरे आस पास बैठे हुए लोगों में करीब-करीब सभी ऐसे थे जिनके सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि वे परिग्रहण करते हैं—और उन लोगों में कई ऐसे थे जो दान भी करते हैं। मुझे उस समय कुछ थोड़ी-सी हँसी भी आई, यह सोचकर कि उन लोगों पर जो परिग्रहण करते हैं और दान देते हैं, इस वाक्य का क्या असर पड़ेगा। और मैंने यह भी देखा कि किसी को उस वाक्य से असंतोष नहीं था, शायद बहुतों ने वाक्य पर ध्यान न दिया हो, और अगर ध्यान भी दिया हो तो उस वाक्य के असली मतलब को न समझा हो।

क्या वास्तव में परिग्रहण पाप है? यहाँ हमें परिग्रहण के अर्थ को समझना पड़ेगा। उसके रूप को देखना पड़ेगा।

ग्रहण करने के अर्थ होते हैं लेना। मनुष्य स्वामी है, प्रकृति का शासक—और प्रकृति से लेना, ग्रहण करना उसका धर्म है। क्षुधा शान्त करने के लिए भोजन, शरीर ढाकने के लिए वस्त्र, साँस लेने के लिए हवा—हम सब तरह ग्रहण ही करते है। पृथ्वी की छाती फाड़कर मनुष्य ने तेल निकाला, सोना, चाँदी, लोहा,

कोयला निकाला। और ग्रहण करने के स्वाभाविक धर्म के अनुसार आज तक का मानवीय विकास होता रहा। मेरा तो ऐसा ख्याल है कि सृष्टि का मूल उद्देश्य ही यह है कि पुरुष प्रकृति पर विजय पावे, एक-एक करके उसके अनन्त रहस्यों को सुलझा कर। ग्रहण करने का निषेध अस्तित्व का नकारात्मक सिद्धान्त है—मृत्यु है। जीवन कर्म है, कर्म प्रेरणा द्वारा जनित है, प्रेरणा अभिलाषा का रूपान्तर है और अभिलाषा ग्रहण करने की भावना का दूसरा नाम है। ग्रहण करना ही जीवन है।

परिग्रहण का दूसरा अर्थ होता है—दूसरे मनुष्य से ग्रहण करना, अर्थात् दूसरे मनुष्य से छीन लेना। आज के समाज का समस्त संघर्ष, सारी मुसीबत, सारे रक्तपात का मूल कारण है यह परिग्रहण। बजाय इसके कि मनुष्य प्रकृति से ग्रहण करे, वह दूसरे मनुष्यों से ग्रहण करने में विश्वास करने लगा है। ये आलीशान मकान, ये मिल-कारखाने, यह बड़े-बड़े होटल, सिनेमा, रेसकोर्स--ये सब इसी परिग्रहण के दूसरे रूप हैं जहाँ सबल मनुष्य निर्बल मनुष्य से छीन लेता है, जहाँ एक आदमी लाखों आदमियों को कंगाल बनाकर स्वयं वैभवशाली बन जाता है।

इस अर्थ में परिग्रहण पाप है—इसे कोई इनकार नहीं कर सकता। इस परिग्रहण मे उत्पीड़न है, पशुता है, असमर्थता है, मानवीय क्षमता और सामर्थ्य पर मनुष्य का अविश्वास है।

जो मनुष्य परिग्रहण करता है वह समाज के प्रति तो अपराधी है ही, वह अपने प्रति भी भयानक रूप से अपराधी है क्योंकि

वह स्वयं अपनी मनुष्यता पर आघात करता है, वह अपने को पशुता की कोटि मे गिरा लेता है।

और क्या दान से उस मनुष्य के पापों का प्रायश्चित्त हो सकता है?

यह कहना कि दान परिग्रहण के पाप का प्रायश्चित्त है, दान की प्रवृत्ति को उत्साहित करना है—मैं यह माने लेता हूँ, पर मैं पूछता हूँ कि दान की प्रवृत्ति को उत्साहित करने से परिग्रहण की प्रवृत्ति उत्साहित नहीं होती?

जिसे यह विश्वास हो जायगा कि दान से परिग्रहण के पाप का प्रायश्चित्त हो जायगा, वह जोरों के साथ खुलकर परिग्रहण करेगा, और उसके साथ एक छोटा सा हिस्सा दान में देकर अपने पापों से मुक्ति पा जायगा। दूसरों को उत्पीड़ित करके दस बीस लाख रुपया पैदा करनेवाला आदमी दस बीस हजार दान देकर तथा अपने पापों से मुक्ति पाकर अपने परिग्रहण के कार्य-क्रम में दत्त-चित्त रहेगा, और इस प्रकार दुनिया में उत्पीडन बुरी तरह बढ़ता ही रहेगा।

हम हिन्दू दान देने में हरदम आगे रहे हैं। हरिश्चन्द्र, बलि, कर्ण—इनके उदाहरण और आदर्श हरेक हिन्दू के सामने हैं। इतना अधिक दान हिन्दुओं में प्रचलित रहा है कि दान लेना स्वयं परिग्रहण का एक रूप बन गया और भिक्षा-वृत्ति पर जीवित रहने वाले एक समाज का ही सृजन हो गया। और हिन्दू रुपया-पैसा, जमीन-जायदाद ही नहीं, अपनी कन्या और

अपनी पत्नी तक दान में दे देते थे। और इस दानवीर हिन्दू समाज का नैतिक पतन भी इतना अधिक हुआ कि हजारों वर्ष से हिन्दू दूसरों की गुलामी कर रहे हैं।

दान देने वाले को जितना अधिक गिराता है उससे अधिक लेने वाले का गिराता है, और इस लिए दान अपने प्रति तो अपराध है ही, उससे अधिक समाज के प्रति अपराध है। मैंने ऐसे मनुष्यों को देखा है जो कोई काम नहीं करना चाहते जो जीवित रहने के लिए परिश्रम नहीं करना चाहते, जिन्होंने भिक्षा-वृत्ति को अपनी आजीविका बना ली है, जो शरीर से नहीं बल्कि आत्मा से अपाहिज बन गए हैं! और मैं समझता हूँ कि ऐसे लोग मनुष्यता के नाम पर कलङ्क हैं। पर सवाल यह है कि ऐसे लोगों को जन्म किसने दिया? मनुष्यो को इतना कायर, अकमण्य और नपुसक बनाया किसने? उत्तर साफ है– इन दान देने वालों ने।

परिग्रहण पाप है—ऐसा पाप जिसका कोई प्रायश्चित्त नहीं। और दान उससे भी अधिक भयानक पाप है। एक ओर वह परि-ग्रहण को प्रेरित करता है, दूसरी ओर वह संसार में अपाहिजपन को, गुलामी का, अकर्मण्यता को बढ़ाता है। परिग्रहण समाज के लिए ऐसा विष है जिसका उपचार किया जा सकता है, लेकिन दान ऐसा विष है जिसका कोई उपचार ही नहीं। परिग्रहण निर्बल पर शारारिक उत्पीड़न है, दान निर्बल की आत्मिक मृत्यु है।

एक दूसरी बात और ! मैं सोचता हूँ कि परिग्रहण ही क्यों हो जिससे दान देने की आवश्यकता पड़े। ये दातव्य औषधालय, ये अनाथालय, ये निःशुल्क शिक्षालय ! इन सबों की ज़रूरत इसलिए है न कि परिग्रहण की नीति से सबल मनुष्यों ने निर्बलों के उनके जीवित रहने के अधिकार से वञ्चित कर दिया है। और दान द्वारा अपनी आत्मा को छलके तथा उत्पीड़ितों को दूसरों की दया पर निर्भर एवं मानसिक गुलाम बनाकर वही सबल मनुष्य परिग्रहण को अक्षय बनाते है।

देना बुरा है – दान के रूप में, सहायता के रूप मे नहीं। दूसरों के दुख से द्रवित होकर दूसरों के दुख को दूर करना मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ आदर्श है, लेकिन इस स्थान पर देनेवाला लखपती एवं करोड़पती परिग्रहण-कर्ता के रूप में नहीं आता, वह आता है एक मानव के रूप में। सड़क पर पड़े तड़पते हुए रोगी को डाक्टर के यहाँ ले जाकर उसके इलाज पर चार-छै रुपए खर्च कर देनेवाला आदमी उस करोड़पती से कहीं अधिक श्रेष्ठ है जो दस-पाँच लाख रुपया दान करके एक दातव्य औषधालय खुलवा देता है क्योंकि पहला आदमी एक मानव की हैसियत से सहायता करता है केवल अपने अन्दर वाली दया और करुणा से प्रेरित होकर, और दूसरा आदमी एक करोड़पती की हैसियत से दान करता है—स्वर्ग पाने के लिए, या अपने परिग्रहण के पाप का प्रायश्चित्त करने के लिए।

और मैंने इस दान के रूप को भी देखा है। यह दान उन

व्यक्तियों को मिलता है जो समर्थ हैं, जो समाज के दूषित अंग हैं, जो जोंक बनकर समाज का खून चूस रहे हैं। यह दान कभी भी उस आदमी को नहीं मिलता जिसे सहायता की वास्तव मे आवश्यकता होती है। यह दान मनुष्य को नहीं दिया जाता, यह दान दिया जाता है पशु को। दान देनेवाला अपने चाँदी के टुकड़ों द्वारा मानव के स्वाभिमान की, उसके व्यक्तित्व की हत्या करता है। कोई भी स्वाभिमानी आदमी उस दान को स्वीकार नहीं कर सकता क्योंकि वह दान मानवीय भावनाओं से युक्त सहायता के रूप में नहीं होता, वह होता है एक समर्थ और घमण्डी आदमी की कृपा के रूप में।

मैंने उन सस्थाओं को भी देखा है जो दान के बलपर चलती हैं। उन सस्थाओं मे वही लोग प्रवेश पा सकते हैं जो समर्थ हैं, जिनके पास साधन हैं, जो समाज मे इतने ऊँचे हैं कि वे उन संस्थाओं के प्रबन्धकों से मिलजुल सकें। मैं पूछता हूँ कि फुट-पाथपर रात काटने वाला मजदूर भला किस प्रकार उन प्रबन्धको के पास पहुँच सकता है? और नतीजा यह होता है कि दान का फ़ायदा उठाते हैं वे लोग जो दान-कर्ता के भाई-बन्द हैं। अकसर तो यह होता है कि दान देनेवाले ही अपने दान द्वारा चलने वाली संस्थाओं मे यह व्यवस्था कर देते हैं कि उनके भाई-बन्द ही उनके दान का फायदा उठाने पावें।

और इतना सब लिख लेने के बाद फिर वही पंडाल, जिसमें अहिसा और धर्म पर लम्बे-लम्बे व्याख्यान दिये जाते हैं, वही

जन-समुदाय जो भक्ति और भावना में गद्गद् होकर अश्रु-विमोचन करता है, और वह दफ्ती जिस पर लिखा है "परिग्रहण पाप है—दान उसका प्रायश्चित्त है।" मेरी आँखों के आगे आ जाते हैं। परिग्रहण करनेवाले और दान देनेवाले उस समूह की आत्मछलना, उसकी पाशविकता, उसकी अहम्मन्यता के कारण ही आज करोड़ों आदमी रौरव नरक में पड़े हुए सड़ रहे हैं।

मैं केवल एक बात जानता हूँ—परिग्रहण पाप है और दान उस पाप को हरदम क़ायम रखनेवाला साधन है। परिग्रहण का कोई प्रायश्चित्त नहीं, अगर कोई प्रायश्चित्त हो सकता है तो वह होगा परिग्रहण को ही छोड़ना।

एक साहित्यिक दृष्टिकोण

एक बार हिन्दी के कुछ साहित्यिकों में यह प्रश्न उठा कि क्या कला का वह रूप जो रामायण, महाभारत आदि ग्रंथों में मनुष्यों को देवताओं और दानवों के रूप में देखता है, जो स्वर्ग और नरक के सपनों से अलंकृत है, जो पाप और पुण्य की व्याख्या में ही जीवन का सार देखता है, उचित है ?

हिन्दी के एक प्रमुख साहित्यिक उस सभा में मौजूद थे। उनका मत था कि कला का वह रूप उचित है, उपयोगी है। साथ ही, वहाँ कुछ और लोग भी थे जिन्हें उस रूप के औचित्य और उपयोगिता पर शङ्का थी।

बात रामायण और महाभारत से उठी थी और उन महान ग्रन्थों की कला को अनुचित कहना अधिकांश हिन्दी वाले अनुचित कहने वालों की अनधिकार चेष्टा कहेंगे। मैं भी उन लोगों मे एक हूँ, पर मेरा कहना किसी दूसरी बिना पर होगा। मैं तो इतना सोच रहा हूँ, "क्या जो ग्रन्थ हजारों वर्ष से जीवित है वे अनुचित कला की नींव-पर खड़े हैं ? क्या वाल्मीकि और व्यास आज भी जिन्दा नहीं हैं ?" मैं साफ देखता हूँ कि उनकी कला में वह जीवन है जो उन्हें आज तक जि़न्दा रक्खे है और भविष्य में भी एक लम्बे अरसे तक जि़न्दा रख सकेगा। उसको अनुचित कहना हमारी अनधिकार चेष्टा है।

हाँ, यह मैं ज़रूर जानता हूँ कला का वह रूप आज के युग में उपयोगी नहीं हो सकता है। मैं समझता हूँ कि युग बदल गया है और मानव-समाज आज कहीं विकसित अवस्था में है। आज हमारा इतना अधिक बौद्धिक विकास हो चुका है कि बहुत से लोग राम के देवत्व पर और रावण के निशाचरत्व पर विश्वास करने को तैयार नहीं। हनुमान ने सूर्य को अपने मुख में रख लिया, रावण के दस सर थे और एक सर गधे का था—यह सब शिक्षित समाज के लिए हास्यास्पद चीज़ बन गई है। जिस काल में यह सब लिखा गया था उस समय लोगो मे विश्वास था, कल्पना थी। उस समय लोग उन बातों पर विश्वास कर सकते थे, पाप-पुण्य की परिभाषाओं के अनुसार अपनी ज़िन्दगी को ढालने का प्रयत्न कर सकते थे, स्वर्ग का उन्हें लोभ था, नरक से वे डरते थे।

आज भी वैसे लोग हिन्दुस्तान में मौजूद हैं, पर उन लोगों की संख्या दिनो दिन कम होती जा रही है। मैं जानता हूँ कि रामायण का जितना आदर बीस वर्ष पहले था, आज नहीं है। और अब कितने घरों में महाभारत मिलेगा, पुराण मिलेंगे?

जो कुछ लिखा गया है, कला के पुराने रूप के अनुसार महान कलाकारों द्वारा जो कुछ निर्मित हो चुका है, धर्म की परम्परा जिसके साथ सम्बद्ध है वही अब अधिक दिनों तक जिन्दा न रह सकेगा। फिर उसके अनुसारे किसी नई चीज़ की सृष्टि तो बिल्कुल जीवन हीन साबित होगी।

जो भी साहित्यकार इस प्रकार के साहित्य का सृजन करता है जिसमें अप्राकृतिक चीजों का समावेश हो, वह साहित्यिक सफल न हो सकेगा—ऐसा मेरा विश्वास है। आज का विकसित मस्तिष्क कल्पना के पेच-ताव की सहायता नहीं चाहता, रूपयों से उसे विशेष रुचि नहीं; वह चाहता है सीधी-सादी बातें, जीवन की वास्तविक घटनाएँ जिन्हें वह रोज़ देखता है। और कलाकार को जो कुछ लिखना हो, उसे वह वास्तविक जीवन से ही लेना पड़ेगा।

जिसे हम 'पाप' कहते है उसे हम 'कमजोरी' भी कह सकते हैं। 'पाप' और 'कमज़ोरी' एक ही चीज़ के दो नाम है—उनमे कोई अन्तर नहीं; पर इन दो शब्दों के अन्दर निहित मानवीय भावनाओं में ज़मीन-आसमान का अन्तर है।

"वह पापी है।" कहनेवाले मनुष्य के अन्दर घृणा की भावना है। हम यह मानते है कि इस घृणा की भावना का मूल कारण कर्म है, व्यक्ति नहीं; लेकिन हम उस समय मनुष्य के कर्म को भूलकर व्यक्ति को उसका उत्तरदायी बना देते हैं। मनुष्य को और उसके कर्म को हम एक मान लेते हैं। यही नहीं,हमारे अन्दर भी घृणा की, असहिष्णुता की भावना प्रबल हो जाती है।

और जब हम कहते हैं, "वह कमजोर है।" तब हम मनुष्य को और उसके कर्मको अलगकर देते है। कर्म के प्रति विरोध होते हुए भी मनुष्य के प्रति हम मे सहानुभूति होती है। उस समय

हमारे अन्दर भी घृणा और असहिष्णुता की भावना के स्थान पर दया और सहानुभूति की भावना होती है।

'पापी' और 'कमजोर'—इन दो शब्दों में एक ही मनुष्य को दो नज़रों से देखा जाता है। 'पापी' कहने के समय हम 'मनुष्य' की उपेक्षा करते है, यानी हम मे कोई भी मानवीय भावना नहीं रह जाती, हम 'व्यक्ति' को उपेक्षाजनक प्राणी समझते है,हमें मतलब केवल उसके कर्मो से रहता है। दूसरे मनुष्य के कर्मों को हम अपने हिताहित के दृष्टिकोण से देखते हैं, और उस समय हम अपने हिताहित को इतनी अधिक महत्ता दे देते हैं कि हम मानवता से अलग होकर दूसरो को अपनी निजी भावना और सुख-दुख का साधन समझने लगते हैं। और वही घृणा का एवं असहिष्णुता का जन्म होता है। पर जब हम मनुष्य को 'कमज़ोर' कहते हैं तब हम 'मनुष्य' को देखते हैं,उसके कर्मों को हम अधिक महत्व नहीं देते ; हमारी सहानुभूति, सदिच्छा 'मनुष्य' के साथ रहती है। उस समय हमारा 'अपनापन' इतना अधिक विकसित होता है कि हम पूर्ण मानव बनकर दूसरों को अपने अति निकट यहाँ तक कि 'अपना' समझने लगते हैं।

× × ×

हमें इस पाप-पुण्य की घृणा से ऊपर उठना है, हमें मनुष्य के कर्मों को न देख कर मनुष्य को देखना है। मनुष्य के कर्म बुरे हैं, इसलिए मनुष्य को नष्ट कर देने के स्थान पर हमे करना यह है कि हम उसको दया, प्रेम, सहानुभूति, से प्रभावित

करके उसके कर्मों को सुधारे क्योंकि वह मनुष्य है—वह अपना है।

इस बात को बहुत से लोग पागलपन का सपना समझ सकते हैं,समझते भी हैं। पर इतना तय है कि एक लम्बे बौद्धिक विकास के बाद ही इस सपने को मनुष्य ने देखा और दिन प्रतिदिन उस सपने पर मानव-समाज का विश्वास बढ़ता जाता है।

मैं पूछ रहा हूँ कि जब हमने स्वर्ग और नरक का निर्माण किया, जब हमने देवता और दैत्य गढ़े, जब हमने लोगों को पाप और पुण्य के बन्धनो से बाँधा, क्या तब हम मानवता का कल्याण करने में समर्थ हो सके ? यह सब जो हमने किया था मनुष्य के हित के लिए, ईमानदारी के साथ किया था, पर इसमे हम बुरी तरह असफल रहे। हमने 'पाप' बनाए और हमने 'पाप' की महत्ता लोगो पर उनमें अंध-विश्वास भर के स्थापित की। उन पापों से मुक्ति पाने के लिए हमने व्रत-उपवास, मन्दिर-मठ, तीर्थ-यात्रा, गंगा-स्नान आदि विधान भी बनाऐ। हमने मनुष्य को शूद्र कहा,चाण्डाल कहा,म्लेच्छ कहा। हमने लोगोंको भूखों मारा और अन्त में हमारा इतना भयानक पतन हुआ कि विदेशियों ने हमें गुलाम बना लिया। हम जो पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक पर विश्वास करने वाले थे, हमीं ने स्त्री को सम्पत्ति समझा, सीता को जंगल में निकाल दिया, द्रौपदी को पाँसे पर हार गये। हम जो पशुओं तक पर दया करनेवाले थे, हमीं ने शूद्रों के कान में, वेदमंत्र पड़ जाने से, सीसा गला कर भर दिया।

यह निश्चय है कि उस धर्म से और धार्मिकता से मानवता का तो कल्याण नहीं हुआ बल्कि विकास की गति से प्रेरित मनुष्य के मार्ग मे बाधाएँ ही आईं। पर विकास मनुष्य का जीवन है—और इसीलिए यह अंधविश्वास, यह धर्म द्वारा जनित पाप-पुण्य की असहिष्णुता होते हुए भी मनुष्य ने बराबर कल्पनाएँ कीं, सपने देखे। पशुता से अलग हट कर मनुष्य मानवता को विकसित करता रहा।

× × ×

आज हमे जिस साहित्य का सृजन करना है वह वास्तविक मानवीय विकास के आदर्शों को ही सामने रक्खेगा। और उन आदर्शों का प्रचार करने के लिए हमे अपनी कला की नीति भी बदलनी होगी। हमें पाप से युद्ध करके उसे निर्मूल नही करना है। हमे तो मानव की कमजोरी पर विजय पाना है। जहाँ पाप है वहीं घृणा है, असहिष्णुता है, हिंसा है, संघर्ष है, पशुता है। इस पशुता और हिंसा से हम अपना हित नही कर सकते क्योंकि इसी हिंसा और पशुता के ऊपर हमे उठना है।

मैं यह मानता हूँ कि एकाएक अपनी जिन्दगी को अहिंसा मय बना लेना कठिन है, पर मै कहता हूँ कि बदल लेना असम्भव तो नहीं है। फिर साहित्य तो पथ-प्रदर्शक है। कर्म को संचालित करनेवाली भावना होती है, लेकिन कर्म शासित होते हैं बुद्धि-जनित विचार से। भावना और विचार—जब तक ये न बदलेंगे तब तक कर्मो का बदलना असम्भव है।

हम साहित्यिक बौद्धिक प्राणी है, और साहित्य भावना एवं विचार पर केन्द्रित होता है। इसलिए हम साहित्यिकों की बड़ी जबर्दस्त जिम्मेदारी है। हमे युग की विचार-धारा को बदलना है, हमे उस आदर्श संसार का सृजन करना है जो कल्याणकारी हो, सत्य हो, सुन्दर हो।

हम हिन्दी के साहित्यिको का जीवन कटुता से भरा हुआ है। पग-पग पर हमे उपेक्षा मिलती है अपमान मिलता है। जिन परिस्थितियो में हमें रहना पड़ता है, उनसे हम पागल नही हो जाते—यही बहुत है। हम युग के निर्माता जीवित रहने के लिए अर्थ के पिशाच पर अवलम्बित हैं। वज्र मूर्ख, असभ्य, अशिष्ट और असंस्कृत लखपती एवं करोड़पती दानी और महान बनकर साहित्यिको से पुस्तकें समर्पित करा सकते हैं, साहित्यिक-संस्थाओं के संरक्षक बन सकते हैं, साहित्यिकों की हँसी उड़ा सकते हैं, उन्हें बेवकूफ बना सकते हैं।

और यहीं हमें सावधान रहना है, हमे संयम से काम लेना है। अगर वह कटुता जो हमे दूसरों से मिलती है, हमारे अन्दर वाली कटुता को भड़का सकी, अगर वह पशुता से भरी हिसा जिसका हमे पग-पग पर मुकाबिला करना पड़ता है, हमारे अन्दरवाली पशुता से भरी हिसा को सतह पर ले आई तो हम स्वयं अपने को मार लेंगे। तब तो हम भी केवल वही लिख सकेंगे जो अभी तक लिखा गया है और जो कल्याणकारी नहीं बन सका।

नहीं, इस सब से काम नहीं चल सकेगा। हमें साधना करनी है, स्वयं भूखों मर कर दूसरों को जीवित रखने का। प्रयत्न करना है। नियति की ओर से हम इस काम के लिए आए हैं, और हमें मस्तक नमाकर अपने कर्तव्य को स्वीकार करना होगा। क्या इतनी अधिक कटुता, घृणा, हिंसा जो दुनिया में भरी है, दुनिया के विनाश के लिए काफी नहीं है ?

मैं फिर कहता हूँ कि हमें, हम साहित्यिकों को अपने चारों तरफ़ देखना है, दूसरों के दुख-दर्द को, दूसरों की कमजोरियों को अनुभव करना है। हमें मनुष्य को देखना है, उसके कर्मों से सरोकार है। मनुष्य की उपेक्षा करके उसके कर्मों पर अपना निर्णय देना मानवता के लिए हितकर नहीं है।

विचार - विनिमय

[१]

मेरे एक दोस्त हैं, पढ़े-लिखे समझदार आदमी। एक दिन मुझसे बोले, "हम दो-चार मित्र सप्ताह मे एक आध बार मिल-कर विचार-विनिमय क्यों न किया करें। हम लोग सब के सब शिक्षित आदमी हैं और ऐसी हालत में एक दूसरे के दृष्टिकोण से परिचित होकर एक सही मत निर्धारित कर ले—इसमें क्या हर्ज है?"

बात कुछ ऐसी बेजा न थी, और मुझे अधिक सोचने का मौक़ा भी न था। मैंने स्वीकृति दे दी और अगले रविवार को मेरे चार मित्र मेरे यहाँ चाय पीने और चाय पीकर विचार-विनिमय करने के लिए एकत्रित हुए।

इन चार मित्रों के नाम बतलाने की कोई आवश्यकता नहीं; सुविधा के लिए हम उन्हें राम, कृष्ण, सूर्य और चन्द्र कहेंगे। राम एक पत्र के सम्पादक हैं, कृष्ण एक कालेज में अध्यापक हैं, सूर्य एक सार्वजनिक संस्था के मन्त्री हैं और चन्द्र कांग्रेस के नेता हैं।

चारो सज्जन एकत्रित हुए, आपस में कुशल-क्षेम की बातें हुई और फिर राम ने चन्द्र से पूछा, "महात्मा गांधी की अहिसा पर आप कहाँ तक विश्वास करते हैं और क्यों करते है?"

चन्द्र ने एक छोटा-सा उत्तर दिया, "महात्मा गांधी की अहिंसा पर मै पूर्ण रूप से विश्वास करता हूँ और इसलिए विश्वास करता हूँ कि अहिंसा जीवन का एकमात्र सत्य है।"

कृष्ण साम्यवादी थे, या यों कहिए हैं। उन्होने छूटते ही कहा, "अहिंसा कायरता है, अकर्मण्यता है। महात्मा गाधी राष्ट्र के सामने कायरता का प्रचार करने के अपराधी हैं। और मुझे आप लोगो पर ताज्जुब होता है कि ऐसे ढोंगी और कपटा आदमी को आप देवता की तरह पूजते हैं।"

सूर्य जो महात्मा गांधी के उतने अधिक भक्त न थे जितने वे साम्यवाद के विरोधी थे कृष्ण की बात सुनकर उबल पड़े। बोले, "अपनी पशुता को लेकर अनगिनती मनुष्यों की भी नहीं बल्कि ईश्वर तक की हत्या करनेवाले उस शैतान लेनिन के गुलाम अगर यह समझते हैं कि उनके महात्मा गांधी आदि महा-पुरुषों को गालियाँ देने से हमे आश्चर्य होगा तो वे गलती करते हैं।"

इस पर राम ने अजीब तरह से मुँह बनाते हुए कहा, "हाँ साहेब, आप पूँजीपतियो के आका गांधी का समर्थन तो करेंगे ही।"

और मै आश्चर्य से इस विचार-विनिमय को तथा विचार-विनिमय करनेवालों को देख रहा था। गाली-गलौज हुई, मेज़ पर घूँसे मारे गये। मुझे ताज्जुब हो रहा था कि उन्होंने आपस में

एक दूसरे को घूँसे क्यों नही मारे। और मेरे नए चाय के सेट के दो प्याले और पाँच रकाबियाँ टूट गई।

[२]

इस प्रकार के विचार-विनिमय मै करीब-करीब रोज़ ही देखता हूँ, और कभी-कभी मुझे भ`, अपनी इच्छा के प्रतिकूल इस प्रकार के विचार-विनिमय मे भाग भी लेना पड़ता है। एक-आध बार एक-आध सज्जन जिज्ञासुओ की भाँति मेरे पास आए। उन्होंने मुझसे प्रश्न किया, और मेरे उत्तर को बीच ही मे काटकर मुझ पर अपनी विचार-धारा को स्पष्ट करके उन्होने मुझे उस विचार-धारा को स्वीकार करने के लिए मजबूर करने का भी प्रयत्न किया। और मै देख रहा था कि उनके पास कुछ रटे हुए फ़िकरे थे, एक विदेशी शब्द जाल था। ऐसा मालूम होता था कि वे लोग पढ़ भागे हैं। जा कुछ उनकी नज़र मे पहले-पहल पड़ा उसे ही उनके कच्चे दिमाग ने जीवन के एक अडिग-सत्य की तरह अपना लिया। मैंने साफ देखा कि उनके पास अपनी कोई निजी विचारधारा नहीं। वे लोग विदेशी विचारकों के गुलाम बन गए हैं। और अब वे सोचना-समझना भी नहीं चाहते।

इस प्रकार के विचार-विनिमय द्वारा हमारी समस्या और भी जटिल हो गई है। हम दूसरों से जानने के लिए, सीखने के लिए कब बाते करते हैं? हम तो दूसरों से बातें करते हैं दूसरो को अपने सामने झुकाने के लिए, दूसरों को अपने तर्क से पराजित

करने के लिए। उस समय हम में केवल एक भावना रहती है—किसी तरह अपने सिद्धान्त को दूसरे के सामने स्थापित करना और दूसरों के कथन को गिराना। हम तर्क नहीं करते, हम युद्ध करते हैं, और वही युद्धवाली हिंसा की कटुता हम एक दूसरे के साथ बरतते भी हैं। और अन्त में इस विचार-विनिमय के बाद हम पाते क्या हैं? मैंने आज तक नहीं देखा कि दो विचार-विनिमय करनेवालों में एक ने दूसरे की बात मान ली हो। दोनों ही अन्त तक अपनी बातों, पर अड़े रहे और उठे एक दूसरे के प्रति कटुता की, विरोध थी, हिंसा की भावना लिए हुए।

और आज मै सोच रहा हूँ—इस विचार-विनिमय से लाभ? यह समय की बर्बादी, यह मन को थका देनेवाली कटुता—इस सबके बदले में हम पाते क्या हैं?

दूसरों से तर्क करने की प्रवृत्ति अपने अहम को प्रधानता देने की प्रवृत्ति है क्योंकि उस समय हमारा लक्ष्य सामंजस्य स्थापित करना नहीं होता—हमारा लक्ष्य होता है विरोध और संघर्ष। एक-रसता सामंजस्य में है, संघर्ष में नहीं है; और इसलिए यह विचार-विनिमय, एक दूसरे के साथ यह तर्क-वितर्क केवल एक वाक्-युद्ध है और इसका काम है विनाश—निर्माण नहीं।

[३]

और मैं पूछता हूँ कि लोग अपने ही अन्दर तर्क क्यों नहीं करते? दूसरों से तर्क करनेवाले कितने वास्तव में सत्य को

तलाश में निकलते हैं ? अपने अन्दर वाले तर्क में ईमानदारी है, ज्ञान पाने की अभिलाषा है, चेतना है।

दूसरों की बाते सुनो, पढ़ो, लेकिन उन बातों पर सोचो, अपने ही अन्दर उन बातो पर तर्क करो। उस समय तुम्हारे सामने बाहरी संघर्ष न रहेगा और उस सघर्ष द्वारा उत्पन्न वह विकृत मानसिक स्थिति जो सत्य के प्रति जबर्दस्ती तुम्हारी ऑखे बन्द कर देती है, न रहेगी। उस समय तुम वास्तव मे अपने अहम् को विकसित कर सकोगे क्योंकि तुम्हारे सीमित अहम् का प्रतिद्वंद्वी 'दूसरा अहम्' तुम्हारे सामने न होगा। तुम्हारे सामने होगी एक विचारधारा जिसमें बहुत सम्भव है तुम्हें कोई ऐसी बात मिल जाय जो तुम्हारे दृष्टिकोण को, तुम्हारे अस्तित्व को बहुत बड़ा सहारा दे सके।

मै बाहरी तर्कों से घबराता हूॅ। जो शिकायत मुझे अन्य लोगो से है वही शिकायत अन्य लोगों को मुझसे भी है। अगर मै दूसरों में असहिष्णुता देखता हूॅ तो दूसरे भी मुझमें असहिष्णुता देखते है। और मै स्वीकार करता हूॅ कि मेरे व्यवहार से प्रायः असहिष्णुता ज़ाहिर होती है। लेकिन मैं विश्वास दिलाता हूॅ कि वह असहिष्णुता नहीं है, वह एक झुंझलाहट है। जब दूसरे लोग पाश्चात्य विचारकों की बातों को बिना उन पर सोचे-समझे, अपना सत्य बना कर आते हैं, मुझसे तर्क करने, मुझे अपनी विद्या-बुद्धि से पराजित करने तब यह स्वाभाविक ही है कि मुझमें झुॅझलाहट

पैदा ही हो। वे मुझसे इस प्रकार बातें करते हैं मानो मैं वे बाते ज़िन्दगी मे प्रथम बार सुन रहा हूँ।

जो कुछ मै लिखता हूँ, तर्क करने को नहीं लिखता। मै तो अपने उन निर्णयों को पेश करता हूँ जिन पर मैं अपने उन तर्कों द्वारा पहुँचा हूँ जो अनुभवों और अनुभूतियो पर अवलम्बित हैं। बहुत सम्भव है जो बाते आज मैं कह रहा हूँ वे आगे चल कर मेरे भावी अनुभवो की कसौटी पर गलत उतरे और मुझे स्वय अपने इन निर्णयों को बदलना पड़े। पर इसके ये अर्थ नही कि मैं निर्णय करना ही छोड़ दूँ! मुझे अपने जीवन के लिए कुछ आदर्श तो चाहिए ही।

[४]

अगर हम समय समय पर अपने अतीत को देख ले, अपनी ज़िन्दगी की सफलताओं और असफलताओं को तथा उनके कारणो को समझने की कोशिश करे, हमने कितनों को मिटाया, कितनों को पीड़ित किया, कितनो को बिगाड़ा और इस सब से हमें कितना लाभ हुआ था कितनी हानि हुई, अगर हम इस पर गौर कर ले तो शायद हमें जीवन के सत्य को जानने मे काफी अधिक सहायता मिले। रोज रात के समय ठंढे दिमाग़ से सोने के पहले अगर हम ईमानदारी के साथ अपने दिन भर के कामो पर एक नज़र डाल ले और अपने कर्मो के दूसरो पर प्रभाव की तथा परिणाम की कल्पना कर लें तो बड़ा अच्छा हो।

अकारण ही हम कड़ी बात कह देते हैं, अकारण ही हम

दूसरों का अपमान कर देते हैं, अकारण ही हम दूसरों को दुखा देते हैं। हमें इससे कोई लाभ नहीं होता फिर भी हम ऐसा क्यों करते हैं ? इसका मुख्य कारण यह है कि हमने कभी इन बातों पर विचार नहीं किया। मनुष्यता की माप बहुत छोटी-छोटी बातों में मिला करती है। लम्बे-लम्बे सिद्धान्तो पर बहस-मुबाहिसा करनेवाले लोग मनुष्यता से कितनी दूर रहते हैं यह मैं रोज़ ही देखता हूँ। जब तक हम अपनी ज़िन्दगी को अपने विश्वासो के अनुसार ढाल नहीं सकते तब तक यह हमारा सारा बहस-मुबाहिसा एकदम गलत है।

मै फिर कहता हूँ—अपने अन्दर तर्क करो। दूसरों को देवता मत मानो, दूसरो को देवता मानना अपने अन्दर असमर्थता से भरी गुलामी को पालना है। तुम स्वयं समझ सकते हो, तुम स्वयं अपने जीवन का निर्माण कर सकते हो। दूसरे क्या कहते हैं, उसे सुन लो फिर अपने ही अन्दर उन बातों पर सोचो, उन पर तर्क करो। इस प्रकार दूसरों का सहारा लेकर तुम अपने अन्दर वाले सत्य को पा सकते हो।

तुम मानव हो, तुम्हारे पास बुद्धि है। तुम किसी से कम नहीं हो, चाहे वह मार्क्स हो चाहे वह गांधी हो। केवल तुम्हें अपनी बुद्धि विकसित करना है। और अपनी बुद्धि को विकसित करने के लिए आवश्यकता है स्वाध्याय की। यही नहीं, इस बुद्धि द्वारा अपने कर्मों को भी तुम्हें संचालित करना होगा।

इस विचार-विनिमय से तुम्हें कोई फायदा नहीं होगा। हाँ,

तुम एक-दूसरे को गाली भले ही दे लो, यही नहीं, हाथ-पैर पटक कर चाय के प्यालो को या चाय की तश्तरियों को भले ही तोड़ डालो, लेकिन इस प्रकार के विचार-विनिमय से तुम्हें सिवा कटुता के और कुछ हाथ न लगेगा।

मेरे वे मित्रगण आज भी मुझसे मिलते है, आपस में विचार-विनिमय करते है और अपने विचार-विनिमय में कभी-कभी मुझे भी शरीक कर लेते हैं। पर मैं उन विचार-विनिमय करने-वाले अपने जिम्मेदार और बुद्धिमान मित्रों को देखता हूँ और मुझे ऐसा लगता है कि उनकी आत्मा संघर्ष की प्रतिहिसा से धुँधली पड़ गई है। उनके पास सहानुभूति नही है, सहिष्णुता नहो है। उनके पास केवल शब्द-जाल है और जीवन की एक भयानक कुरूपता है। मैं सोच रहा हूँ—काश ये विचार-विनिमय करनेवाले सज्जन अपने अन्दर,ही तर्क कर सकते।

सुविधा का धर्म

शहर का नाम और लोगों का नाम बताना बेकार है, यह जान लेने से काम चल जायगा कि यह किस्सा एक बड़े शहर का है, और बात उन लोगों की है जो सम्पन्न हैं, धर्म निष्ठ हैं। उस समय लोग भोजन कर रहे थे। एक सज्जन ने—सुविधा के लिए हम उन्हें 'क' नाम से सम्बोधित करते हैं, कहा—"साहेब, मैं तो कहता हूँ कि घी घर का ही अच्छा होता है, बाज़ार में अच्छा घी मिलना असम्भव है।"

'क' की बग़ल में एक और सज्जन बैठे थे जिन्हें हम 'ख' कहेंगे। 'ख' किसी हद तक मुँहफट थे। उन्होने छूटते ही कहा, "और असली घी मिल कहाँ से सकता है, जब हिन्दुस्तान मे जगह-जगह घास के घी की मिले खुल गई हैं और खुलती जा रही है।"

'क' मिलमालिक थे और एक वनस्पति घी की मिल उनकी भी थी। उन्होंने समझ लिया कि संकेत उनकी तरफ है। उन्होंने गम्भीरता पूर्वक कहा—"पर वनस्पति की मिलो के खुलने पर आपत्ति क्यों की जाती है? हिन्दुस्तान में इतने आदमी हैं—सबों को असली घी मिल नहीं सकता। गरीबों के लिए वनस्पति घी सस्ता पड़ता है, और उन्हीं के लिए यह तैयार किया जाता है।"

'ख' साहेब खिलखिला कर हँस पड़े, "लेकिन मै तो देखता हूँ कि यह वनस्पति घी अमीरों को और ग़रीबो को समान भाव से मिलता है। बाज़ार में कही असली घी मिल ही नहीं सकता, यह बात आप अभी स्वयं स्वीकार कर चुके है।"

बातों का दौर आरम्भ हुआ, इस साधारण सी बात को लेकर देश के तथा दुनिया के बड़े से बड़े प्रश्नो पर बहस-मुबाहिसे हुए। लेकिन बात वहीं की वहीं रही कि देश मे असली घी के नाम पर बनस्पति घी बिकता है—और ज़ोरो के साथ बिकता है, और यह लाख कोशिश करने पर भी नही रुक सकता।

इस मिलवा घी के बिकने से उस समय मुझे कोई सरोकार नहीं था, मैने तो उस बात-चीत में लोगो की मनोवृत्ति को दुनिया को कसनेवाली उनकी कसौटी को देखा। जिस समय एक सज्जन कहते है कि वे वनस्पति घी गरीबो के लिए बनाते है, वे यह मान लेते है कि ग़रीबी अनिवार्य है और ग़रीब लोग निकृष्ट कोटि के प्राणी है, ग़रीबों को अच्छा खाने का कोई अधिकार नहीं। वनस्पति घी का असर स्वास्थ्य पर अच्छा नहीं पड़ता, इस बात को ध्यान मे रख कर यह भी कहा जा सकता है कि उन सज्जन के मतानुसार यह ज़रूरी नही कि ग़रीब लोग अधिक काल तक जीवित रहें, यानी ग़रीबों को जल्दी मरना चाहिये।

और मै सोच रहा हूँ कि प्रत्येक मनुष्य में जीवित रहने की चाह है; जानबूझ कर कोई भी आदमी अहितकर तथा स्वास्थ्य

को नष्ट करने वाला भोजन न करेगा। मै पूछ रहा हूँ कि देश में कितने आदमी है जो जानबूझकर वनस्पति घी खाते हैं।

वनस्पति घी को वनस्पति घी के नाम से खरीदनेवाले होते हैं। होटल, हलवाई और वे लोग जो असली घी मे इस घी को मिलाते है, माना कुछ ग़रीब आदमी भी है जो अपने यहाँ दावतों में इस घी का प्रयोग करने लग गए हैं, और बड़े-बडे शहरों मे कुछ मध्यवर्ग के आदमी भी सीधे वनस्पति किफ़ायत के लिए खरीदते हैं—लेकिन अधिकांश में इस घी की बिक्री होती है धोखा देनेवालों के हाथो।

मै कहता हूँ कि प्रत्येक वनस्पति घी का मालिक यह जानता है कि वनस्पति का प्रयोग अधिकांश मे जनता को धोखा देने मे होता है। और ये मिल-मालिक ईमानदार, धर्मनिष्ठ तथा सदाचारी होने का दम भरते है।

मै अपने चारो ओर देखता हूँ, और मुझे ईमानदारी नाम की चीज़ नही नज़र आती। हर तरफ़ बेईमानी, हर तरफ़ दग़ाबाज़ी। हिन्दुस्तान की नैतिकता बुरी तरह नीचे गिर गई है।

घी क्यो, कोई भी चीज़ लेले, अगर उस चीज़ मे मिलावट सम्भव है तो वह असली हिन्दुस्तान में मिल भी नहीं सकती। मेरे एक मित्र को शहद की ज़रूरत थी—वे एक अंग्रेज़ी दूकान से अमेरिका से आनेवाला शहद खरीद लाए। उन्होने मुझसे कहा कि असली शहद हिन्दुस्तान मे मिल ही नहीं सकता।

यह नहीं कि यहाँ शहद पैदा न होता हो, लेकिन हर शहद बेचनेवाला शहद में मिलावट कर देता है।

छोटे-छोटे बनियों की दूकानों से मैंने चीनी मँगवाई है, और उस चीनी में मिली हुई कभी तो मिली रेत कभी संगजरात की बुकनी और कभी रवा।

हरएक आदमी अमीर होना चाहता है, हम भयानक रूप से धन के गुलाम हो गए हैं। इस धन के पिशाच ने हमारी सारी नैतिकता, हमारी सारी मानवता, हमारा सारा धर्म-कर्म अपने पैरों नीचे कुचल दिया है। कहीं भी सचाई नहीं, कहीं भी भरोसा नहीं।

और मैं कहता हूँ कि यह सब तब तक नहीं बदल सकता जब तक हम मानवता के असली धर्म को नहीं समझते। हमारा वर्तमान धर्म सुविधा का धर्म है; हम सोचते नहीं, हम परिणाम पर ध्यान नहीं देते, हम केवल जो कुछ हमारे सामने है उसे देखते हैं। और अगर हमारे दिल को चोट नहीं लगती तो हम समझ लेते है कि जो कुछ हम करते है वह ठीक है।

मैं जानता हूँ ऐसे बड़े-बड़े सम्पन्न सेठों को जो लाखों रुपया दान में देते हैं, लोगों को तड़पते हुए देखकर जिनका जी भर आता है, जो रक्तपात के नाम से सिहर उठते हैं, जो निरामिष भोजी हैं। वे नेक आदमी है, मैं स्वीकार करता हूँ, वे धार्मिक हैं। अपनी जान में वे कोई पाप नहीं करते, वे सदा कोशिश करते रहते हैं कि मरने के बाद उन्हें स्वर्ग मिले।

लेकिन मै कहता हूँ कि यदि वे अपने जीवन के अपने कर्मों के वास्तविक रूप को देख सकते तो जिसे वह रौरव नरक कहते है, उसके भय से वे काँप उठते। करोड़ों रुपया जो वे पैदा करते है, आता कहाँ से है? यह उन्होंने कभी नहीं सोचा। उनके पास करोड़ों की रक़म आने के कारण कितने आदमियों को पैसे के अभाव में भूख और ठण्ढ से तड़पकर मर जाना पड़ता है, इसको जानने की क्या उन्होंने कभी कोशिश की है? वह आदमी जो निरामिषभोजी है, सूद लेकर मनुष्य का खून चूस लेता है, क्या कभी उसने यह सोचा है? इस सुविधा के धर्म के उपासक होने के कारण ही मनुष्य के अन्दर वाली नेकी घुट-घुटकर मर जाती है, मनुष्य मनुष्य न रहकर पिशाच बन जाता है।

हमें इस सुविधा के धर्म को तिलांजलि देनी होगी। हमे वास्तविकता को देखना होगा और वास्तविकता पर सोचना पड़ेगा। यज्ञोपवीत धारण करनेवाले, गंगा-स्नान करनेवाले, छुआछूत माननेवाले धर्म की अब हमें ज़रूरत नहीं, हमें ज़रूरत है उस धर्म की जो दया, प्रेम और त्याग की नींव पर खड़ा हो, जो सत्य से भागे नहीं, जो सत्य को साहस के साथ देखे और वर्तमान कठिनाइयो का मुक़ाबिला करे।

मै उन सज्जन को जानता हूँ जिन्होंने ग़रीबों की भलाई के लिए वनस्पति घी की मिल खोल कर लाखों रुपया पैदा किया है। समाज में उनका आदर है, मान है। और उन्हें इस बात

का ज्ञान है कि लोग उनकी इज़्ज़त करते है—उन्हें इस बात का गर्व भी है। लेकिन मै सच कहता हूँ कि लोग उनका आदर नहीं करते, लोग उनके पैसे का मान और आदर करते है। उनके घनिष्ट मित्र तक उनके पीठ पीछे उनकी बुराई करते हैं। उनसे रोज़ मिलनेवाले, उनकी हर समय खुशामद करनेवाले उन्हें मन ही मन गालियाँ देते हैं। पर उनकों दूसरो की भावनाओं का पता नहीं, उनके पास सुविधा का धर्म है, और उस सुविधा के धर्म मे उन्होंने अपने को डुबा दिया है।

अकसर लोग ग़लत काम करने के समय कह देते हैं कि सभी ऐसा करते हैं, हम क्यो न करे। पर यह कहने वाले यह भूल जाते है कि यह 'सभी' एक-एक व्यक्ति को मिलकर बनता है। मैं तो हरेक आदमी से कहूँगा कि 'सब' को बतानेवाले 'तुम' हो। अगर हरेक यह कहनेवाला आदमी कि 'सभी' ऐसा करते हैं 'हम' क्यां न करे, स्वयं नेक और ईमानदार बनने का प्रयत्न करने लगे तो यह 'सभी' ग़ायब हो जायगा।

एक बात और मेरे सामने आती है। आरम्भ करनेवालों को पहले-पहल कुछ नुक़सान होगा, उन्हें कष्ट होगा, सम्भव है उन्हें भूखों भी मरना पड़े। पर मै कहता हूँ कि क्या शरीर की मृत्यु से आत्मा की मृत्यु अधिक भयानक नहीं है ? इस शरीर की रक्षा करने के लिए आत्मा को शैतान के हाथ सौंप देना क्या कायरता नही है ? हम पैदा हुए हैं, हमें मरना भी है। सारा सवाल यह है कि हम पैदा क्यों हुए हैं ?

मै तो एक बात जानता हूँ, हम पैदा हुए हैं मनुष्यता के विकास मे सहायक होने के लिए। एक बार नहीं। हज़ारों बार मेरे अन्दर से कोई मुझसे कह चुका है, तुम्हारा अस्तित्व महज़ खाना, पीना, मौज करना नहीं है। सिर्फ इतना तो हरेक पशु भी करता है। तुम्हारा अस्तित्व है विकास-निरन्तर विकास! तुम्हें दया मिली है, तुम्हारे अन्दर श्रेष्ठ भावनाएँ हैं, तुम्हें सद् और असद् का विवेक मिला है—इनका उपयोग करना ही तुम्हारा धर्म है।

मै फिर कहता हूँ कि हमे, हममें से हरेक को इस सुविधा-धर्म पर सोचना पड़ेगा। हमारे सामने पुरानी सभ्यता के नष्ट-भ्रष्ट खँडहर पड़े है, धन के पिशाच ने सब कुछ नष्ट कर दिया है। सारे समाज में भयानक अनैतिकता घुस आई है। नियम और क़ानून से यह अनैतिकता नहीं सम्हलती, दण्ड के भय से बननेवाली नैतिकता की नींव चिरस्थायी होती है, चाहे वह नरक का भय हो चाहे यह जेलखाने का भय हो। जहाँ नरक हैं वहाँ पापों को धोनेवाले गंगा-स्नान, पूजापाठ, दान इत्यादि अनेकों विधान भी हैं; जहाँ जेलखाने हैं, वहाँ जेलखाने से बचने के लिए झूठ, जालसाज़ी, रिश्वत आदि अनेक साधन भी हैं। मानवता के विकास के लिए आवश्यक है—मनुष्य का विकास!

दीवाली

[१]

पता नहीं किस मसखरे ने दीवाली के त्यौहार की कल्पना की थी, लेकिन हम इतना कह सकते हैं कि उसने हम हिन्दुओं के साथ एक अच्छा-खासा मजाक़ किया। खूब है यह दीवाली का त्यौहार, और हम जितना ही इस त्यौहार पर ग़ौर करते हैं उतना ही चक्कर में पड़ते जाते है। यह त्यौहार हिन्दुस्तान में बड़ी धूम-धाम के साथ मनाया जाता है, जश्न होते है, आतशबाज़ियाँ छूटती हैं, दिये जलते हैं।

हमारे एक मित्र है, किसी कदर आर्य-समाजी। एक दफे जो उनसे बातचीत हुई तो वे हम से बोले, "महाशयजी! आप जानते हैं कि दीवाली में जो रोशनी की जाती है वह क्यों?"

हम अपने उन मित्र के ज्ञान के क़ायल हैं। सोचा कि उनके ज्ञान के अमूल्य-भण्डार का एकाध रत्न हमें मिलनेवाला है और हमने तपाक के साथ कहा, "जी नहीं! हमने गोकि इस पर बहुत सोचा-विचारा, लेकिन हम किसी निर्णय पर नहीं पहुँच सके।"

मुँह बनाते हुए उन्होंने उत्तर दिया, "आप निर्णय पर पहुँचेंगे ख़ाक! आप जानते हैं कि बरसात के बाद बहुत से

भुनगे, कीड़े-मकोड़े रात के समय उड़ा करते हैं रोशनी की फिराक़ मे और रोशनी के पास जाकर प्राण त्याग देते हैं ?"

हमने कहा, "जी हाँ ! और वाकया यह है कि इन भुनगो और कीड़ो-मकोड़ो मे जान मुसीबत में पड़ जाती है ! तो फिर ?"

उन्होने हँसकर उत्तर दिया, "तो दीवाली में जो इतने दीपक जलाए जाते हैं वह इसलिए कि तमाम भुनगे कीड़े मकोड़ों आदि-आदि एक-साथ ही हरदम के लिए अपने प्राण त्याग दे। समझे आप ! दीवाली के बाद आप अगर ग़ौर करें तो आपको उन भुनगो, कीड़ों-मकोड़ों के दर्शन भी नही होते !"

अपने दोस्त की उस नई खोज पर हम दंग रह गए। कितनी पते की बात उन्होने ढूँढ निकाली, कितना वैज्ञानिक कारण उन्होंने हमारे सामने पेश किया।

लेकिन हम हैं कि विज्ञान से कोसों दूर रहते हैं, उसे पास नहीं फटकने देते। तो उस वक्त तो हमने गला फाड़कर अपने मित्र की तारीफ कर दी, लेकिन सन्तोष हमे ज़रा भी नहीं हुआ।

तो कहना यह है कि हमने बहुत-बहुत पुरान पढ़े, शास्त्र पढ़े और हम इस नतीजे पर पहुँचे कि दीवाली के दिन जो यह अनगिनती दिये जलाए जाते हैं वह लक्ष्मी जी का स्वागत करने के लिए ?"

लक्ष्मीजी के आँखें हैं, यह हम जोर देकर कहते हैं ; और

इसका सबूत यह है कि अगर उनके आँखे न होती तो वे एक से एक खूसट खवीस और बदतमीज़ उल्लू को अपनी सवारी के लिए न चुनतीं। ऐसी हालत में जो अनगिनती दिये उनका स्वागत करने को जलाए जाते हैं—इसकी क्या ज़रूरत थी? यह सवाल ज़रूर उठ पड़ता है। लेकिन हम हैं कि जब खोजबीन पर जुट गए तब बिना तह तक पहुँचे हमारा खाना-पीना हराम! तो अपने राम की समझ में यह आया कि इसमे दोष लक्ष्मी जी का नहीं है। बल्कि दिया जलानेवालों का है। लक्ष्मी जी उन पर सवारी गाँठें, सबों मे इसकी अभिलाषा रहती है, और लक्ष्मी वाहन बनने की योग्यता का लोग बड़ी खूबी के साथ प्रदर्शन करते हैं।

[२]

आमतौर से लोगों का ख्याल है कि दिवाली मुख्यतः बनियो का त्यौहार है। बरसात भर ये ग़रीब बनिये कीचड़ काँदों के कारण (बात उस समय की है जब न सीमेण्ट की पक्की सड़कें बनी थीं न नदियों पर लोहे के पुल बने थे) रास्ता खराब हो जाने से अपने-अपने घरों मे किसानों की फ़सल पर अपनी नज़रें जमाए बैठे रहते थे। कर्ज के व्याज मे किसानो की फ़सल का एक बड़ा हिस्सा हथिया कर घर में बीबी-बच्चों के साल-भर तक खाने-पीने का इन्तज़ाम करके वे यह त्यौहार मनाते थे और इसके बाद व्यौपार के लिए घर से निकल पड़ते थे।

इसलिए बनियो का नया वर्ष दीवाली से ही शुरू होता है। बहीखाते बदले जाते हैं बनाए जाते हैं और अगर जरूरत हुई तो जाल किया जाता है। लक्ष्मी जी की पूजा होती है कि वह उन पर कृपा करें। दीवाली के दिन रुपयों की अजीब धूम-धाम रहती है।

रुपयों की धूम-धाम का एक बहुत दिलचस्प रूप है। जुआ जो दीवाली में घर-घर में खेला जाता है। कहा यह जाता है कि दीवाली की रात मे किसी को सोना नहीं चाहिये, न जाने किस समय लक्ष्मी जी आपके घर में आवें और अगर आप उस समय सोते हुए मिले तो आपको ठेंगा दिखाकर चलती बनें। लिहाज़ा इसलिए कि लक्ष्मी जी आप पर नाराज़ न हो जाँय, आपके लिए यह ज़रूरी है कि आप रातभर जागें। लेकिन जागें भी तो किस बहाने ? यानी आप जुआ खेले।

इस जुआ के मसले पर भी हम ग़ौर करने से नही चूके। बहुत छानबीन करने के बाद हमें यह पता लगा कि बनिया लोग जुआ खेल कर यह देखा करते थे कि उनका साल कैसा बीतेगा। अगर जुआ में वह जीते तो समझिये कि सालभर उनकी चाँदी ही चाँदी ! यानी व्यौपार मे उन्हें फ़ायदा होगा, वे मौज करेंगे। और अगर हारे तो सावधान हो गए कि जोखिम उठाना ग़लत होगा ; व्यौपार में चोरी, उठाई गीरी और गिरहकटी का सहारा लेना होगा। लिहाज़ा जीतनेवाले तो शेर की तरह छाती फुलाकर लक्ष्मीजी की जयजयकार

मनाते हुए खरा माल लेकर व्यौपार के लिए निकल पड़ते थे और हारनेवाले कैंची, चाकू, जाली वही-खाते तथा अन्य ऐसे सामान लेकर धोखा-धड़ी करने निकलते थे।

जुआ के मसले पर हमें एक बात और सूझी। हिन्दुस्तान का इतिहास पढ़ने पर हमें एक यह पता चला कि हमारे पूज्य पूर्वज अव्वल नम्बर के जुआरी होते थे, यानी इस क़दर जुआरी कि हम कलियुग वाले उनका मुकाबिला किसी तरह नहीं कर सके। दो महानुभावों के कारनामे तो हमारे सामने हैं ही और ये दोनों महानुभाव एक तरह से आदर्श महाप्रभु रहे है। एक तो धर्मराज तक कहलाने का दावा करते थे, यानी वे थे महाराज युधिष्ठिर! तो ये युधिष्ठिर महोदय जुए में अपना राज-पाट क्या अपनी बीबी तक हार गए, और उस पर तुर्रा यह कि बीबी उनकी पूरी नहीं बल्कि शिरकत की थी, यानी उनके चार भाइयों का भी उस बीबी मे हिस्सा था। लेकिन उस जमाने के भाई भी शायद बछिया के ताऊ हुआ करते थे। बड़े भाई ने उनकी बीबी को दाँव में लगा दिया और वह हैं कि बैठे हुए टुकुर-टुकुर देख रहे हैं। एक से एक धनुर्धारी, गदाधारी थे वे भाई, लेकिन मजाल है कि चूँ तक कर जाते! दूसरे सज्जन हैं राजा नल! बड़े महात्मा बड़े धर्मात्मा! और एक दिन जो सूझी तो सारा राज-पाट हारकर बनवास के लिए रवाना हो गए।

तो अपने राम का ऐसा खयाल है कि हमारे बुजुर्ग पक्के

जुआरी थे, और उन बुज़ुर्गों में शायद कुछ समझदार लोग भी रहे हों। इन समझदार लोगों ने जब देखा होगा कि सभ्य और नेक आदमी जुएँ में अपनी बीबियाँ हार जाते हैं, राजा अपना राज-पाट हार जाते हैं तब उन्हें चिन्ता पैदा हुई होगी। उन्होने हमारे जुआरी बुज़ुर्गों को समझाया होगा कि मेरे भाई जुआ मत खेलो, बड़ी नाकिस आदत है, बड़ी हानिकारक है। लेकिन हमारे जुआरी बुज़ुर्ग—भला यह सलाह वे क्यों मानने लगे !

तो हमारा कुछ ऐसा खयाल है कि उन समझदार नेक क़िस्म के लोगों ने हमारे जुआरी बुज़ुर्गों के साथ सख्तियाँ की होंगी, उन्हें जेल भिजवाया होगा, उन पर जुर्माने किये होंगे। और आख़िर में हमारे बुज़ुर्गों ने कहा होगा, "क्या बताएँ, यह अपनी जुए की आदत तो छूटती नहीं चाहे तुम हमारी बोटी-बोटी काट डालो। तो अब कुछ ऐसा करो कि हमारा जुआ खेलना भी बन्द न हो और यह जुआ की आदत भी हमसे छूट जाय।" इस पर उन नेक व समझदार लोगों ने कहा होगा, "अच्छा ! हम तुम्हे इजाज़त देते हैं कि साल में दो-चार दिन तुम खुले आम जी खोलकर जुआ खेल लो। यानी हम लक्ष्मी जी का त्यौहार तुम्हारे वास्ते तै किये देते हैं और तुम अपना सारा लक्ष्मी-वाहन पना इस त्यौहार में निकाल दो।

तो हम इस निर्णय पर पहुँचे कि कुछ इसी तरह जुआ इस दीवाली के त्यौहार में शामिल हुआ होगा।

[३]

जुए की बात उठी है तो रुकने की तबीयत नहीं होती क्योंकि विषय मजेदार है।

हाँ, तो 'जुआरी' शब्द से हमारी कल्पना एक ऐसे आदमी की होती है जो शक्ल से निहायत शरीफ दिखे लेकिन हो पूरा निकम्मा, आलसी, अहदी और आवारा—यानी जो यह समझे कि ज़िन्दगी की साथकता दूसरों की मेहनत पर ज़िन्दा रहने में है और जो इस बात पर अमल भी करे।

अकसर हमने यह भी सुना है कि जुआरी आदमी बड़ा ईमानदार होता है गोकि इसका तजुर्बा हमें अभी तक नहीं हुआ है। हमारे कुछ निजी अनुभव तो ठीक इसके विपरीत रहे हैं। एक साहेब हमारे नौकर थे। उनको कुछ सामान लाने के लिए दो रुपए दिये गए। बड़ी मुस्तैदी के साथ वे सामान लाने के लिए घर से निकल पड़े। अब देखिये कि हम अपने नौकर साहेब का इंतजार कर रहे हैं लेकिन वह नदारद। करीब तीन घण्टे बाद मुँह लटकाए, मरीज़ की सी सूरत बनाए वापस लौटे—खाली हाथ! बोले, "बाबूजी! रुपए तो कहीं रास्ते में गिर पड़े!"

हमने समझ लिया कि कुछ दाल में काला है। हमने उनसे जिरह करनी शुरू करदी; बड़ा दम-दिलासा दिया, बड़ा मारा-धमकाया तब जाकर कहीं उन्होंने क़बूल किया कि रास्ते मे जुएँ का पाड़ जमा था। उन्होंने सोचा कि दो रुपए के चार

रुपए बना ले। दाँव पर दोनो रुपए रख दिये—और उसके बाद वे दोनों रुपए भी ग़ायब हो गए।

दूसरा किस्सा दीवाली के दिन का ही है। लड़कपन की बात है, हम उन दिनों कानपुर में रहते थे। प्रथा के अनुसार हम भी जुआ खेलते थे। तो जनाब एक जगह हमारे सामने सैकड़ों का दाँव लगा था और हम इस हार जीत की तैयारी मे थे कि बत्ती गुल हो गई। अब जब बत्ती जली तो हमने देखा कि फड़का करीब पाँच सौ रुपया ग़ायब था। तो उस दिन यह कहावत कि 'चिराग गुल, पगड़ी ग़ायब!, हमारी समझ मे आ गई।

तो हमारा कहना है कि जुआरी आदमी ईमानदार होता है, यह बात हमारे जमाने मे तो कम से कम नही लागू होती, सतजुग मे भले ही लागू होती रही हो। गोकि उस ज़माने मे भी बेईमानी से पासे फेंके जाते थे और धोखा देकर लोगो का राज-पाट व उनकी बीबियाँ हजम कर ली जाती थी।

खैर, छोड़िये यह बात! हम कर रहे थे जुआ की मीमांसा। तो पहले ज़माने मे कामकाजी आदमी ज़रूर जुआ खेलते रहे होंगे क्योंकि उस जमाने मे जुआ आमतौर से दिल-बहलाव समझा जाता था। लेकिन आज की दुनिया में तो जुआ लोगो का पेशा बन गया है। अगर आप कभी सट्टा-बाज़ार या शेयर बाजार जाँय तो एक अजीब नज़ारा आपको दिखेगा।

बड़े-बड़े पगड़ी-धारी, तिलक धारी, तोद धारी महानुभाव

आपको वहाँ दिखेंगे। ये सब के सब अपने को इज्जतदार आदमी समझते हैं—यही नहीं बहुत से दूसरे बेवकूफ भी इन्हें इज्जतदार श्रीमान मानते हैं। ये लोग जुआ खेलते है और मौज के साथ जिन्दगी बिताते हैं।

हमारे उन बेवकूफ पूर्वजों मे और आज के समझदार सेठों में केवल इतना अन्तर है कि जहाँ हमारे पूर्वज बुद्धू की तरह अपनी बीवी व अपना राजपाट हारकर दूसरों के हवाले कर देते थे वहाँ यह समझदार सेठ बीवी-बच्चों के नाम लाखों रुपया जमा करके चुपचाप बड़े इतमीनान के साथ दीवाला निकाल देते है।

[४]

अपने राम का ख़याल है कि हम जुएँ पर कुछ ज़रूरत से ज्यादा लिख गए और दीवाली के त्यौहार को हम भूल ही गए। तो दीवाली के सिलसिले मे हमें एक और पर्व की याद आ गई, जिसे हमें दीवाली का पुछल्ला तो नहीं बल्कि अगल्ला कहना पड़ेगा, क्योंकि यह पर्व दीवाली के ठीक एक दिन पहले पड़ता है और इस पर्व का नाम है 'नरक चौदस।'

हम बहुत सोचते रहे कि आख़िर इस पर्व का नाम नरक चौदस क्यों पड़ा। एकाएक हमे उस मसख़रे की याद आ गई जिसने दीवाली के क़िस्म के त्यौहार की कल्पना की—और वैसे ही हमारी समझ में पूरा रहस्य आ गया। यह नरक

चौदस इसलिए बनाया गया है कि वे सब के सब लक्ष्मी के पुजारी जो आज कल नरक आबाद कर रहे हैं, एक दिन पहले लक्ष्मी का पूजन करे क्योंकि दीवाली तो जिन्दा आदमियो के लक्ष्मी-पूजन के लिए बनी है।

अब एक हम हैं देख रहे हैं कि लक्ष्मी के पुजारियों को नरक मिलता है, स्वर्ग नही, क्योंकि अगर स्वर्ग मिलता होता तो स्वर्ग-परीक्षा नाम का कोई पर्व जरूर मनाया जाता, और इतना देखते हुए भी हम लक्ष्मी की पूजा किये ही जाते हैं।

खैर साहेब, स्वर्ग-नरक की बातो से दुनियावालों को कोई सरोकार नहीं ; हम दुनियावाले तो इस दुनिया को जानते है और इस दुनिया मे ताक़त है 'पैसा !' तो हम कह सकते हैं कि दीवाली पैसे वालो का त्योहार है। और इसलिए हमारी आप सब लक्ष्मी के उपासकों के प्रति शुभ कामना है कि आप पर लक्ष्मीजी सवारी गाँठे और लक्ष्मी-वाहन बनकर आप फले-फूले।

चरखा

हमारे एक दोस्त हैं—महात्मा गांधी के परम भक्त ! आँख बन्दकर के गांधीजी की आज्ञा का पालन करते है, और यही नही—दूसरो से भी उस आज्ञा को पालन करवाने का प्रयत्न करते हैं। यह तै बात है कि अपनी दूसरी कोशिश मे उन्हे कभी-कभी दूसरो से लड़ जाना भी पड़ता है।

एक दिन अलस्सुबह वे मेरे यहाँ तशरीफ़ लाए। एक अजीब हुलिया बनाए थे। उनके दोनों हाथों मे एक-एक बक्स था, कन्धे पर एक खादी का झोला लटका था जिसमे ठसाठस सामान भरा था, और उनके खादी के कुरते की चारो जेबे—दो बग़ल की और दो ऊपर की क्योंकि कुरतो मे अधिक से अधिक जेबें रखवाने में वे विश्वास करते हैं—कागजो से बुरी तरह लदी थीं। उनके मत्थे पर पसीना था, वे हाँफ रहे थे। आते ही उन्होने मुझसे कहा, "वन्दे मातरम् !"

मैने अपना सर उठाया, उनकी हुलिया देखी, अपनी हसी दबाई और बड़ी गम्भीरतापूर्वक कहा, "अहा! नमस्कार ! बैठिये, अच्छी तरह तो हैं ?"

बैठकर उन्होने मुझसे कहा, "क्या अच्छी तरह हूँ ? दिन भर दौड़ता रहता हूँ, दम मारने की फुरसत नहीं है।"

"खैरियत तो है!" मैंने पूछा, "यह दौड़-धूप कैसी हो रही है?"

"अरे भाई क्या बतलाऊँ। महात्मा गांधी ने आदेश दिया है कि सत्याग्रही होने के लिए नियमित रूप से सूत कातना आवश्यक है, और इसलिए मुझे एक चरखा-आश्रम खोल देना पड़ा। वहाँ आकर लोग नियमित रूप से सूत कातते हैं। और..." अपनी अपनी एक जेब से कागजों का एक पुलिन्दा निकालते हुए उन्होंने कहा, "आपको भी नियमित रूप से सूत कातना चाहिए। लिहाज़ा आप यह सदस्यता का फ़ार्म भर दें।" और यह कह कर उन्होंने दूसरी जेब से एक रसीद बुक निकाली, "चन्दा आठ आना साल है, सिर्फ नाम-मात्र वह चाहे आप अभी दें या फिर कभी दे दें!" इसके बाद उन्होंने पहला बक्स खोला, "यह है यरवदा-चक, हिन्दुस्तान का सर्वश्रेष्ठ चरखा" और फिर उन्होंने दूसरा बक्स खोला, "यह हैं वर्धा तकलियाँ।" इसके बाद उन्होंने झोले को कंधे से उतारा, "यह है रुई की पोनियाँ, अच्छी सी अच्छी रुई! तीस नम्बर का सूत तो नौसिखया तक आसानी से कात लेगा।"

उस वक्त तक, उनकी बातें सुनते-सुनते, मुझे भी कुछ मज़ा आने लगा था। मैंने मुसकराते हुए कहा, "कहा है—'चले राँड़ का चरखा, चले बुरे का पेट!' सो देखो बाबा, दूसरा दरवाजा देखो!"

मेरा इतना कहना था कि मेरे दोस्त एकाएक भड़क उठे.

"तुम कायर हो, तुम देश-द्रोही हो ; तुम्हारा मुँह देखना पाप है।"

मुझे उनसे पूछना पड़ा, "अच्छा, चरखा चलाने से हमें क्या फायदा होगा ? किस तरह हम स्वतन्त्रता पाने मे सफल होंगे ? क्या आप बतला सकते हैं ?"

मेरे दोस्त बगल झाँकने लगे, "मैं यह सब नही जानता, जानना भी नहीं चाहता ! महात्मा गांधी कहते हैं इसलिए ठीक है। देश के बड़े-बड़े नेता सबके सब चरखा चलाते हैं, वे बेवकूफ थोड़े ही हैं !"

मेरे उन दोस्त की तरह नित्य चरखा कातनेवाले ऐसे लाखों आदमी हैं जिन्होंने इस बात पर सोचने की कभी कोशिश ही नहीं की कि चरखे को महात्मा गांधी द्वारा इतना महत्व क्यों दिया जाता है। आज की दुनिया में जब मशीनों द्वारा कम से कम समय मे अधिक से अधिक सूत काता जा सकता है, तब चरखे की क्या उपयोगिता हो सकती है, इस पर हमें सोचना पड़ेगा। क्या महात्मा गांधी का यह कहना कि चरखा आज की बुराइयों की एकमात्र औषधि है, ठीक है ?

इसके पहले कि हम चरखे के ऊपरी पहलू पर ध्यान दें, हमें चरखे के आध्यात्मिक पहलू पर ग़ौर कर लेना चाहिए। आज का युग मशीन का युग है, और मशीनों द्वारा दुनिया में बेकारी बढ़ रही है। यह पूँजीवाद जो दुनिया को इस बुरी तरह पीस रही है मशीन की उपज है और आज की उलझन पूँजीवाद द्वारा उत्पन्न हुई है।

आज की उलझनों को दूर करने के लिए पूँजीवाद के वर्तमान रूप को मिटाना अथवा बदलना आवश्यक है। पूँजीवाद को दो तरीकें से मिटाया जा सकता है, एक तो पूजीवादियो को मिटाकर दूसरे पूँजी को मिटाकर। अधिकांश लोगो के मन मे पूजी को मिटाना असम्भव है क्योंकि आज की दुनिया की सारी संस्कृति ही पूँजी पर विकसित हुई है। पाश्चात्य देशों का सारा विकास और सारी उन्नति ही पूजी द्वारा हुई है और इसलिए पाश्चात्य देशो मे किसी ने कभी पूजी को मिटाने की कल्पना ही नहीं थी। वहाँ के विचारको ने पूँजीवादियो को मिटाकर ही आज की समस्या का हल पाने का प्रयत्न किया है। पूंजीवाद से उत्पन्न समस्याओ की औषधि जहाँ भी निकाली गई है वहाँ पूँजीवादियो को मिटाकर ही निकाली गई है, पूजी को मिटाकर नही। और इसका परिणाम यह हुआ कि आज व्यक्ति पूजीवादी न रहकर राष्ट्र और सरकारे पूँजीवादी हो गई है।

लेकिन पूजी द्वारा उत्पन्न उलझनों के पूँजी को ही मिटाकर दूर किया जा सकता है, पूजीवाद को मिटाकर नहीं। पूँजी का स्वाभाविक गुण है उत्पीड़न, और जब तक पूँजी क़ायम रहेगी उत्पीड़न भी कायम रहेगा। व्यक्ति से हटकर राष्ट्र में उस पूँजी के केन्द्रित हो जाने से समस्याएँ और भी भयानक रूप धारण कर लेगी—जैसा आज दुनिया मे हो रहा है। पहले एक व्यक्ति अनेक व्यक्तियो का शोषण करता था, अब एक राष्ट्र अनेक राष्ट्रों का शोषण करेगा।

महात्मा गांधी का विश्वास है कि पूँजी द्वारा उत्पन्न उलझनों को दूर करने के लिए पूँजी को ही दूर करना पड़ेगा। और पूँजी को जन्म देती है मशीन। आज यदि अपने हाथ से काम किया जाय तो हरेक आदमी के वास्ते दुनिया में काम मौजूद है, और बेकारी दूर हो जाने से हरेक आदमी को खाना-कपड़ा मिल सकता है।

मशीन का पहला रूप कपड़े की मिलों में दिखलाई देता है। जीवन में अन्न के बाद वस्त्र ही आता है। अन्न उत्पन्न करने के लिए अभी मशीन का इतना अधिक प्रयोग नहीं होता—कम से कम हिन्दुस्तान में नहीं—पर वस्त्र बनाने के लिए हजारों मिलें खुली हैं।

चरखा एक रूपक है, पूँजी को नष्ट करने के विश्वास का। चरखे को उसी रूपक की तरह हमे समझना पड़ेगा। आज जब आदर्शों का संघर्ष हो रहा है, हमें रूपकों की बहुत बड़ी आवश्यकता है। अगर महात्मा गांधी चरखे पर जोर देते हैं तो बेजा नही, महात्मा गांधी आदर्शों के युद्ध मे संलग्न हैं। सैनिको के पास आदर्शों को प्रदर्शित करनेवाला कोई चिह्न तो होना चाहिए।

और एकाएक मुझे इस स्थान पर वह पुरानी कहावत आ जाती है "चले राँड़ का चरखा।" यह कहावत हँसी मे कही जाती है, पर इस कहावत में एक बहुत बड़ा सत्य है। अनादि-काल से चरखा बेकारों और अनाथों का आश्रयदाता समझा

गया है। चरखा स्वावलम्ब की निशानी समझी गई है। विधवा जिसका अवलम्ब छिन गया है, जिसके सामने भूख और बेकारी है—उसे चरखा अवलम्ब दे सकता है। वह मेहनत करके, बिना दूसरे पर आश्रित रहकर अपना पेट पाल सकती है।

हम हिन्दुस्तानी असहाय हैं, हमारी अवस्था राँड़ की अवस्था से भी गई-बीती है। चरखा हमारे लिए—यानी हम पढ़े-लिखे राजनीतिक कार्य-कर्ताओं के लिए—एक रूपक भले ही हो, पर वह सारे देश की बेकारी की एक बहुत बड़ी औषधि भी है। एक वक्त भी भरपेट भोजन न पानेवालों को काम चाहिए। पाश्चात्य देशों की बेकारी की अपेक्षा—हिन्दुस्तान की बेकारी बहुत अधिक दयनीय है। और इसलिए चरखे का प्रचार अपनी वर्तमान उलझनों को दूर करने के लिए निहायत जरूरी है। हमें चाहिए कि प्रत्येक गाँव मे, प्रत्येक घर में चरखे का प्रचार हो।

और अच्छा होता कि हमारे कार्य-कर्ता असलियत को समझकर काम करते। ज्ञान द्वारा जनित विश्वास में और अंध-विश्वास मे बहुत बड़ा अन्तर है। चरखे के आन्दोलन की सफलता तभी सम्भव है जब कार्यकर्ता चरखे के महत्व को जानने लगे; नहीं तो उनका सारा कोश इसी प्रकार हास्यास्पद होगा जैसा हमारे उन दोस्त का था जो निहायत नेक और ईमानदार होते हुए भी अपने अज्ञान के कारण चरखे का एक हास्यास्पद रूप दुनिया के सामने पेश कर रहे थे।

एक आक्षेप

मेरे एक मित्र हैं। उनका नाम बतलाने की जरूरत नही, इतना कह देना काफी है कि वे मेरे कनिष्ट मित्र हैं। और यह भी कहा जा सकता है कि वे शिक्षित हैं, प्रतिभावान् हैं। वे नौजवान हैं—उम्र मे मुझसे काफी छोटे, लेकिन आदमी शायर हैं–मनचले, स्वच्छन्द प्रकृति के और मज़ाक-पसन्द। एक दिन वे तशरीफ लाये, किसी क़दर उजलत में। उस समय मैं चा पी रहा था, मैंने ताड़ लिया कि हज़रत आज कुछ बिगड़े हुए हैं।

काफी गरम चा का एक प्याला वे एक घूँट मे पी गए, आँखे चमकने लगीं, चेहरे पर सुर्खी आ गई। छूटते ही उन्होने मुझसे कहा, "मै यह कहने आया हूँ कि वे लोग जो 'अहिसा-अहिसा' अलापा करते है, खद्दर पहना करते हैं, गाधी-टोपी लगाते हैं—वे सबसे अधिक बदमाश हाते है।"

मै चौक-सा उठा। खद्दर मै पहिनता हूँ, 'अहिसा-अहिसा' भी मै रटा करता हूँ और गाँधी टोपी भी लगाता हूँ। मैने जरा गाल साफ करते हुए पूछा, तो आपका मतलब है कि मैं यानी मैं बदमाश हूँ।"

उन्होने उसी गम्भीरता के साथ कहा, यह तो मै अभी ठीक-तौर से नही कह सकता क्योकि आपकी बाबत अभी तक कोई सबूत नहीं मिला, शक कभी-कभी भले ही हुआ हो, लेकिन अगर आप भी बदमाश निकलें तो मुझे कोई ताज्जुब नहीं होगा।

मैंने उठकर उनके सरपर हाथ फेरते हुए नौकर से एक गिलास पानी मंगवाया फिर मैंने उनसे कहा, 'क्यो भाई, क्या मतलब है ? किसी कांग्रेसमैन से झगड़ा तो नहीं हो गया ? और अगर झगड़ा भी हुआ है तो उसने कहीं तुम्हें पीटा तो नहीं ? और अगर उसने तुम्हें पीटा है तो मैं यह ऐलान कर सकता हूँ कि वह कांग्रेसमैन नहो है--कम से कम अहिंसावादी तो वह हो ही नही सकता ?"

नौकर उस समय तक एक गिलास ठंढा पानी ले आया था। मैंने उनको सलाह दी कि वे अपना सर धो ले। लेकिन उस समय वे भरे हुए थे। अपने सर पर पानी डलवाने से उन्होने साफ इनकार कर दिया। उन्होने कहा, "नहीं जी बात यह है कि कल एक सज्जन मेरे पास आए, अच्छे खास महाशयजी बने हुए। खादी का कुरता पहने हुए, खादी की धोती बाँधे हुए, खादी की टोपी लगाए हुए। जी हाँ, और हाथ मे एक खादी का झोला भी था जिस पर एक तरफ तो तिरंगा झंडा छपा था और दूसरी तरफ महात्मा गांधी की तसवीर छपी थी। बोले कि छपरा के रहनेवाले हैं, कलकत्ता आए तो जेब कट गई। पास मे एक पैसा नही, घर वापस जाना है। दस रुपया उधार चाहिये। घर जाते ही वापस कर देंगे। और उन्हें शरीफ आदमी समझ कर मैंने दस रुपए दे दिये।"

मैंने कहा, "लेकिन आज तो वह घर भी नही पहुँचे होंगे, तुमने उन्हें बदमाश कैसे कह दिया ?"

उन्होंने झुँझलाकर कहा, "पहले पूरी बात सुन लीजिये, बात क्यों काट रहे हैं। कल शामको मैं ज़रा ·····होटल चला गया। और वहाँ देखा कि वे सज्जन एक रेशमी सूट डाटे हुए मौज से पी रहे हैं और एक बाज़ारू लड़की उनकी बगल में थी। मुझे देखकर ऐसे मुँह फेरा मानो वह मुझे पहचानता ही नहीं।"

"लेकिन तुम यह क्यों चाहते थे कि वह तुम्हें पहचान ही ले ?" मैंने पूछा।

मेरे मित्र उबल पड़े, "आप भी कैसी बातें कर रहे हैं ? उसे शर्म आनी चाहिये थी, लेकिन वह आदमी लगातार हँस रहा था।"

अब मेरी बारी थी। मैंने कहा, "वह हँसता इसलिए था कि उसने तुम्हें बेवकूफ़ बनाया, तुम्हें—जो तुम बहिर रूप से ही मनुष्य को परखते हो, तुम्हें—जो तुम यह सब समझने की परवाह तक नहीं करते। खैर जाने दो इस बात को ! लेकिन इतना तो तुम मानही गए होगे कि इस पोशाक में कोई ऐसी बात है कि ठग तक दूसरों को ठगने के लिए इस पोशाक का प्रयोग करते हैं। अब सवाल यह है कि तुमने सब खद्दर पहननेवाले को बदमाश क्यों समझ लिया ?"

उन्होंने कहा, "मैंने सब खद्दर पोशों को बदमाश ही पाया और साथ-साथ ढोंगी भी।" यह कहकर उन्होंने खद्दर पहननेवालों की बदमाशी के क़िस्से सुनाने शुरू किये।

सुनते-सुनते जब मै ऊब गया तब मुझे कहना पड़ा, "सुनो

भाई अगर मैं ग़ैर खादी पहननेवालों के क़िस्से सुनाना शुरू करूँ तो दो चार सौ किताबें लिख डालूँ। मैं यहमाने लेता हूँ कि खादी पहननेवाले भी मनुष्य हैं, उनमे भी कमज़ोरियाँ हैं।"

"लेकिन ज़रा आप यह तो देखें!" उन्होंने कहा, "ये खादी वाले जो अहिसा पर विश्वास नहीं करते, नैतिकता पर विश्वास नहीं करते—ये खादी पहन कर दूसरों को धोखा देते हैं कि नहीं?"

आज मैं सोच रहा हूँ कि उनकी बात कितनी ठीक थी। वास्तव मे वे लोग बड़े भयानक हैं जो अपना स्वार्थ-साधन करने के लिए खादी पहनते हैं, कांग्रेसमैन बनते है, अहिसा की दुहाई देते हैं।

मुझे याद है ट्रेन का वह दृश्य जब एक खादी पहने हुए सज्जन ने मुग़लसराय स्टेशन पर गाड़ी सफर करनेवाले लोगों से किसी अनाथाश्रम के नाम पर पैसे वसूल किये थे। उस अनाथाश्रम का नाम व पता मैंने नोटकर लिया था, लेकिन मुझे आज तक उस अनाथाश्रम का पता नहीं लग सका।

खादी एक राजनीतिक वर्दी है, मैं यह माने लेता हूँ, लेकिन खादी को नैतिकता, की वर्दी क्यों माना जाय? यह प्रश्न मेरे सामने है। आज हिन्दुस्तान की कांग्रेसवाली राजनीति में महात्मा गांधी के कारण नैतिकता का बहुत कुछ हाथ है, लेकिन इसके ये अर्थ नहीं होते कि प्रत्येक खादी पहननेवाला मनुष्य सच्चरित्र हो, ईमानदार हो।

मेरे वे मित्र इसी बात पर नाराज़ है कि खादी पहननेवाला हरेक व्यक्ति सच्चरित्र क्यों नहीं होता। कुछ आदमी जो खादी पहनकर दुनिया को धोखा दे रहे है, मेरे उन मित्र ने प्रत्येक कांग्रेस मैन को उन्हीं की कोटि का समझ रक्खा है। और मैं यह कह सकता हूँ कि यह ग़लती करने मे मेरे दोस्त अकेले नहीं हैं।

कई साल पहले की बात है, अजंटा की गुफाएँ देखने के लिए मै जलगाँव से जा रहा था। हम कई आदमी थे, और साथ मे वह सज्जन भी थे जिन की मोटर पर हम सफ़र कर रहे थे। जिनकी मोटर थी वे एक सम्पन्न आदमी थे, उन्होने बात-बात मे कहा, "अजी कांग्रेस मे ९९ फीसदी आदमी बदमाश हैं।"

उस समय मुझसे न रहा गया था, मैंने वैसे ही उत्तर दिया था, "और कांग्रेस के बाहर सौ फीसदी आदमी बदमाश हैं। ख़ैरियत है कि कांग्रेस में आने के कारण एक फीसदी आदमी तो नेक बन गए।"

मेरे इस उत्तर से वह आदमी घबरा गया था। बाद में मुझे मालूम हुआ कि उस आदमी के पास शराब के चार ठीके थे, लेकिन कांग्रेस गवर्नमेण्ट ने नशाबन्दी का कानून पास करके उसके व्यौपार को गहरी क्षति पहुँचाई थी।

उस समय तो वह बात मैंने आवेश मे कह डाली थी, लेकिन आज जब अपने चारों ओर देखता हूँ तो ऐसा लगता है कि मैंने

कुछ ऐसा गलत भी नहीं कहा था। ये बड़े-बड़े राजा-महाराजा, सेठ-महाजन जो कांग्रेस का विरोध करते हैं, मैं जानता हूँ कि ये लोग क्या है, मैंने इनकी ज़िन्दगी देखी है।

लेकिन फिर भी मै यह मानता हूँ कि खादी पहनकर कुछ लोग दूसरों को धोखा देते हैं, या दूसरों को धोखा देने के लिए कुछ लोगों को खादी पहननी पड़ती है। मेरे वे मित्र जो उस दिन इतना उबल पड़े थे, ख़ादी पहना करते है—मुझे इस बात का शक है कि वह असली खादी है भी या नहीं। मैं जानता हूँ, और मेरे दोस्त भी ईमानदारी के साथ स्वीकार करते है कि उन्हें खादी पर रत्ती भर विश्वास नहीं, लेकिन क्या करें, वे खादी पहनने को मजबूर हैं।

कुछ साल पहले की बात है—उन दिनों मुझे स्वयं ख़ादी पर विश्वास न था। लेकिन खादी के दो कुर्ते और दो धोतियाँ मै बराबर रखता था। किसी सभा-सोसाइटी मे जाना हुआ तो ख़ादी के कपड़े निकल आए, किसी समर्थ कांग्रेसमैन से मिलना हुआ तो उस दिन सूट की जगह खादी पहनी गई। मुझे याद है कि जब सूबों में कांग्रेस सरकार आई तब उन लोगों ने भी जो दो दिन पहले तक कांग्रेसमैनों को भद्दी से भद्दी गालियाँ दिया करते थे और जिनके ख़ान्दान से हर साल दो चार हज़ार रुपया विलायतों को विलायती चीज़ों के मूल्य रूप में जाया करता था, खादी के कपड़े बनवा डाले। आज भी मै ऐसे कई लोगों को जानता हूँ जो खादी पहनते हैं लेकिन जिनकी कपड़ों की मिलें

चल रही है, जो विलायती चीज़ो का व्यौपार करते हैं।

और इतना सब लिख जाने के बाद अब सवाल मेरे सामने यह है कि मैंने यह सब क्यों लिखा। मैं अपने से ही पूछ रहा हूँ कि आखिर मैं चाहता क्या हूँ और सबसे बड़ा सवाल तो यह है कि मैं भले ही बहुत कुछ चाहूँ,यह बहुत कुछ हो कहाँ सकता है ?

नहीं, मनुष्य की ये कमजोरियाँ एक दिन मे दूर नहीं हो सकतीं। इनके दूर होने मे समय लगेगा। और इस बीच में हमारा कर्तव्य यह है कि हम चीजों को देखे, उनकी वास्तविकता को समझें। सहानुभूति के दृष्टिकोण के साथ चीज़ो को स्वीकार करें और बिना दूसरों की कमजोरियो पर ध्यान दिये, अपने अन्दरवाली कमजोरियों को दूर करें।

धोखा-धड़ी

कल एक दोस्त से बात हो रही थी और वे दोस्त सम्पादक है! उन्होने बात-बात मे मुझसे कहा, "हिन्दुस्तान के आधे आदमी नपुंसक हैं और आधे आदमी अभागे हैं।"

मैंने उत्तर दिया, "हाँ, आप ठीक कहते हैं। लेकिन आधे क्यों—मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि हिन्दुस्तान के सभी आदमी नपुंसक है और सभी अभागे है। हम नपुंसक हैं इसीलिए गुलाम हैं, और गुलाम हैं इसीलिए अभागे हैं।"

मेरे मित्र एकाएक चौंक उठे, "भाई जिस समय मैंने यह बात कही थी उस समय यह पहलू मेरी नज़र मे नही था, मैने तो दूसरी बिना पर यह बात कही थी!"

इस बार मेरे चौंकने की बारी थी, "वह दूसरी बिना क्या है?"

वे बोले, "बात यह है कि आप हिन्दी की पत्र-पत्रिकाएँ पढ़ जाइये, और उन सबो मे आपको दो किस्म के विज्ञापन ही अधिकतर मिलेंगे। एक होगा नपुंसकता की राम-बाण दवा का, दूसरा होगा सिद्धि दाता कवच का। इससे मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि हिन्दुस्तान मे इन दो चीज़ो की माँग सबसे अधिक है।"

बात उनकी ग़लत नहीं थी—यह मुझे स्वीकार करना पड़ा।

अकसर कई पत्रों मे मुझे एक विज्ञापन देखने को मिल जाया करता है, उसका शीर्षक रहता है, "मालवीय जी का कायाकल्प तथा महात्मा जी का चमत्कार!"

एक दिन उस विज्ञापन को पढ़ गया—मालूम हुआ वह नपुंसकता-निवारण का विज्ञापन है।

उस नपुंसकता की दवा के विज्ञापन से मालवीय जी का केवल इतना सम्बन्ध मालूम पड़ा कि मालवीय जी ने (स्वर्गीय पण्डित मदनमोहन मालवीय) देशी औषधियों से कायाकल्प किया था। पता नहीं कायाकल्प से मालवीन जी को कितना फायदा हुआ। लेकिन इस विज्ञापन के साथ अपने एक पूज्य नेता का नाम देखकर कुछ अजीब-सा ज़रूर लगा।

और 'महात्मा जी' महात्मा गांधी नहीं निकले, बल्कि दवा बाँटते हुए, ज़मीन के अन्दर गड़े हुए खज़ाने खोलते हुए, चरस का दम लगाते हुए, मुक्ति दिलाते हुए, पहाड़ों पर अपनी ऐयारी के करतब दिखलाते हुए एक महात्मा जी हैं।

होता अकसर यह है कि हमारे वैद्य जी परोपकार के परम अवतार होते हैं। उन्होंने किसी महात्मा जी से, या फिर चरक महोदय से ही कोई खास नुस्ख़ा उड़ा दिया और वह नुस्खा जन-साधारण के सामने पेशकर दिया यह बतलाते हुए कि हज़रत अगर आप अपना उद्धार करना चाहते हैं तो इस नुस्खे का सेवन कीजिये। और हमारे ये वैद्यजी ईमानदार तथा परमार्थी इतने

हैं कि घर से हजारों रुपए विज्ञापनों पर खर्च करके उस नुस्खे का प्रचार करते है और गला फाड़-फाड़कर चिल्लाते है, "लूटो भाई, लुटा दिया - बिल्कुल मुफ्त !"

जी हाँ, और आप वह नुस्खा तैयार करके भीमसेन बनिये, रुस्तम बनिये, गामा बनिये ! लेकिन आप वह नुस्खा तैयार तो कीजिये। और हम कहते है कि अगर आप उस नुस्खे को वाकई तैयार करने लगे तो हमारी राय में आपकी बराबरी का मूर्ख इस दुनिया मे न मिलेगा।

पहले तो आप बीस तोला शुद्ध बुरादा फौलाद उसे एक तोला शुद्ध श्वेतमल्ल और डेढ़ माशा शुद्ध भीमसेनी कपूर के साथ शुद्ध घृतकुमारी रस मे घोट कर पाँच सेर शुद्ध कण्डे की आँच में फूँकिये। अब आपने रो-झींक कर यह काम खत्म किया तब आप उस दुबारा एक तोला शुद्ध हरताल वर्की डेढ़ माशा शुद्ध भीमसेनी कपूर के साथ शुद्ध घृतकुमारी रस मे घोटिये। फिर तीसरी बार एक तोला शुद्ध आमलासार गंधक और डेढ़माशा शुद्ध भीमसेनी कपूर मे घोटिये और चौथी बार एक तोला शुद्ध सत्वारित पारद और डेढ़ माशा शुद्ध भीमसेनी कपूर मे फूँकिए। और जनाब एक दो नहीं, बल्कि इस दवा को सोलह आचे दीजिये और इतना करने के बाद दवा ज़मीन मे गाड़ दीजिये। (कैसी ज़मीन मे दवा गाड़ी जाय—यह नहीं बतलाया गया है) चार महीने बाद उस दवा को ज़मीन के बाहर निकालिये और फिर उसका सेवन कीजिये।

यह तै है कि आप क्या आपके छै पुश्त तक इस दवा को न बना सकेंगे। लहाज़ा वैद्य जी के यहाँ से आप यह दवा पौने छै रुपए में मँगा लीजिये।

एक आध रईस और एक आध रिटायर्ड डिपटी कलक्टर भी इसी तरह के नुस्खे लेकर निकल पड़े हैं। वह बेचारे भी किसी किसी महात्मा के चक्कर में पड़ गए और उनसे ज़बान हार चुके, लिहाज़ा अपनी जनम भर की कमाई परोपकार में लगा रहे हैं। कुछ देवियाँ भी जिनके पति कभी नपुंसक रहे हैं और किसी महात्मा जी की कृपा से अच्छे हो गए अपनी बहनों के नपुंसक पतियों का इलाज करने निकल पड़े हैं। यानी हमारा कहना यह है कि हिन्दुस्तान के बहुत काफी लोग लठ लेकर नपुंसकता के पीछे पड़ गए हैं।

इधर तो यह और उधर कुछ ऐसे परोपकारी जीव भी आ गए है जो आपको करोड़ों रुपयो का फायदा करवा सकते है। लाटरी वह आपके नाम निकलवा दें, रेस वह आपको जितवा दे, मुकदमे में सफलता वह आपको दिलवा दे—यही नही पड़ोस की बहू-बेटियो को भी आप इन महोदयो की कृपा से उड़ा सकते हैं। और इस सबके बदले आपको देना पड़ेगा दो-चार रुपया, लेकिन पेशगी।

कोई साहेब नव ग्रह यन्त्र बनाए घूमते है; कोई सिद्धि कवच यन्त्र लेकर आपकी सेवा में हाज़िर हैं। अगर आप इनसे फायदा नहीं उठाते तो आपका सा अभागा दुनिया मे न मिलेगा।

और हिन्दुस्तान मे ये सैकड़ो खद्दार खिदमतगार लोगो को लूट रहे हैं, लोगों की अशिक्षा, अज्ञान और दुर्भाग्य का फायदा उठा रहे है, झूठ, फरेब और मक्कारी से सारे वातावरण को गन्दा कर रहे हैं। उनकी ओर कोई उँगली तक नहीं उठाता, इनके कुकर्मों पर कोई कारवाई नहीं होती। ये जो पीड़ितो को धोखा देते है, ग़रीबों को ठगते है और खुद मौज करते हैं—इनके विरुद्ध जनता को कोई आगाह भी तो नहीं करता।

बेकारी और भूखों मरनेवालों की संख्या काफी है। वे इन ज्योतिषियों के विज्ञापनों से प्रभावित होकर किसी तरह कहीं से दो-एक रुपया लाकर इस छल-प्रपंच के महायज्ञ में फूँक दिया करते हैं। इसको रोका जाना चाहिये।

इन लोगों के पास एक से एक बढ़कर प्रशंसा पत्र मौजूद है, ओर प्रशंसा पत्र देखकर मै इन निर्णय पर पहुँचा हूँ कि नैतिकता की, ईमानदारी की हमारे देश मे, हमारे समाज में कोई कीमत ही नहीं। मुरव्वत से, पैसा देकर, खुशामद करके या मूर्ख बना कर आप लोगों से जो चाहे लिखवा सकते हैं, कहला सकते हैं।

इस छल-प्रपच का अन्त होना चाहिये। सवाल यह है—कैसे? सरकार इस पर कोई कार्रवाई नहीं कर सकती। यह छल-प्रपंच प्राय-विधान की धाराओं में नहीं आता। इस छल-प्रपंच को दूर करने की, इसके विरुद्ध लड़ने की ज़िम्मेदारी हम-पर है, हमपर जो समाज के पथ-प्रदर्शक होने का दावा करते

हैं, जो पढ़े-लिखे हैं, जो सोच-समझ सकते है। भारत की नपुंस-कता और ग़रीबी के पण्डे ये वैद्य और ज्योतिषी जो समाज का रक्त चूस रहे है, उन लोगों के चंगुल से लोगो को बचाना हमारा कर्तव्य है।

संयम का जीवन और आत्मविश्वास—हिन्दुस्तान के जन-साधारण के लिए यही एक दवा है, यही एक सिद्धिदाता कवच है। आज जनता को आवश्यकता है कि वह अपनी कमज़ोरियों के ऊपर उठे—सत्य, ईमानदारी और सद्भावना के साथ कर्तव्य-पथ पर अग्रसर हो। ये कायाकल्प करनेवाले, ये भविष्य बतलानेवाले, ये भाग्य बदलनेवाले—समाज को इनकी ज़रूरत नहीं, यह लोग समाज के पातको का सृजन करते है।

यही क्यो, हम देखते हैं कि व्यौपार-क्षेत्र में करीब-करीब हर जगह यह धोखा-धड़ी चल रही है। एक साहेब पाँच रुपए मे पाँच घड़ियाँ बेचते हैं, और पाँच घड़ियो के साथ पाँच सौ अन्य चीज़े ऊपर से मिलती हैं। घड़ियों की गारंटी भी है—पाँच वर्ष थी। और बेचारा अनुभवहीन भोला-भाला दिहाती देखता है कि चीजें लुट रही हैं। वह वी० पी० से माल मँगाता है। पाँच घड़ियाँ ज़रूर आती हैं, लेकिन वे टीन की खिलौना घड़ियाँ निकलती हैं। और पाँच वर्ष की गारंटी भी ठीक है क्योंकि यह टीन पाँच वर्ष तक गलेगा नहीं, टूटेगा नहीं—अगर आप उसे छुवें न। बाकी ५०० चीज़ों में सौ आलपीनें हैं, दो

सौ परदा बनानेवाले काँच के मोती है, सौ टीन के बटन है, और सौ ऐसी ही अन्य चीजे हैं।

सरकार ने ऐसे लोगों के खिलाफ कार्रवाइयाँ भी की हैं, लेकिन ये लोग आसानी के साथ अपने बेईमानी से कमाए रुपयो की सहायता से बच जाया करते हैं।

हमें—साहित्यिको को, पत्रकारो को सोचना पड़ेगा कि क्या इस प्रकार की धोखा धड़ी मे हम साधन नहीं बनते। यह विज्ञापन पत्र-पत्रिकाओ में ही तो छपते हैं—और पत्र-पत्रिकाओ का काम होता है पथ प्रदर्शन करना।

——

श्रेणी-भेद

मान लीजिये कि आप बुद्धू है—लेकिन शायद आप अपने का बुद्धू मानने को किसी हालत मे तैयार नहीं होंगे क्योंकि दुनिया मे बेवकूफ़ से बेवकूफ आदमी अपने को निहायत अक्लमन्द समझता है—मान लीजिये कि आपके मिलनेवाले कोई सज्जन बुद्धू हैं। और आप है पढ़े-लिखे, अक्लमन्द ; और आपके कुछ घनिष्ट मित्र भी आपकी ही तरह पढ़े लिखे व अक्लमन्द हैं। तो आप अपने उन मित्रो के साथ किसी दिन शाम के समय इतमीनान के साथ बैठे। चाय के दौर चले, गरमागरम पकौड़ियाँ, ताजे ताजे रसगुल्ले और तरह-तरह के खाने आपके सामने हैं। इस बीच मे आपके वे मिलनेवाले जो बुद्धू है आपके बीच मे कहीं से टपक पड़े।

अब जनाब बात चीत आरम्भ हुई। किसी ने कालिदास के मेघदूत का एक श्लोक पढ़ा, किसी ने जयदेव का पद गाया, और बारी-बारी से विद्यापति, सूरदास, तुलसीदास, देव, बिहारी आदि कवियो ने आप लोगो पर अपना-अपना फेर किया। इस बीच में आपके मिलनेवाले बुद्धू मुँह बाए आपकी बात-चीत सुनते रहे। शुरू में तो उन्हें एक-आध जमुहाई भी आई, लेकिन अन्त में उन्होंने भी जोर मारा और उन्होंने

कड़क कर नत्था गुरु की लावनी का एक पद आपको सुनाया। उस हालत में हुआ यह कि अगर आप किसी कदर बिगड़े दिल हुए तो आपने, नहीं तो फिर आपके किसी बिगड़े दिल समझदार मित्र ने उनसे कह दिया, "तुम बड़े बदतमीज़ आदमी हो जी—अगर तुम्हें कुछ समझ में नहीं आता तो चुप क्यों रहते !" और आपके बुद्धू मिलनेवाले को भी कुछ बुरा लगा। नतीजा यह हुआ काफी गाली-गलौज के बाद (मार पीट की भी नौबत पहुँच सकती है) आपके बुद्धू मिलनेवाले वहाँ से चलते बने।

यहाँ यह स्पष्ट है कि दोनों को कष्ट हुआ, आप लोगों को उन सज्जन के आपके बीच में आ टपकने से, और उनको आप लोगों के बीच मे आ फँसने से। आप लोगों के जीवन में एक विषमता है—एक ऐसी चीज़ है जिसके कारण आप लोग एक दूसरे से बहुत दूर हैं।

अनादि काल से मनुष्य-मनुष्य मे इस प्रकार की विषमता मौजूद रही है, और इसी से विभिन्न प्रकार की श्रेणियों की रचना हुई है। यह रचना की नहीं गई है, यह रचना स्वयं ही हो गई है।

हिन्दुस्तान मे यह श्रेणी-विभाजन जाति-पाँत के रूप में हुआ। शिक्षितों और विचारकों की एक श्रेणी बनी जो ब्राह्मण कहलाई। योद्धाओं की एक दूसरी श्रेणी बनी जो क्षत्रिय कहलाई। वाणिज्य-व्यवसाय करनेवाले दुनियादारो की तीसरी श्रेणी

वैश्य कहलाई। और इसके बाद रह गए वे लोग जिनका मानसिक स्तर बहुत नीचा था और उनसे गुलामी करवाने के लिए उन्हें शूद्र कह दिया गया।

हिन्दुस्तान का श्रेणी विभाजन आर्थिक नीव पर नही हुआ था, वह हुआ था सांस्कृतिक आधार पर। और सांस्कृतिक आधार पर बनी हुई यह वर्ण व्यवस्था जन्म-जात बन जाने के कारण धीरे-धीरे अभिशाप बन गई। एक बार जो हो गया वह अमिट हो गया, क्योंकि वह धर्म और समाज का आवश्यक अंग बना दिया गया था—उसे सफल बनाकर अनन्त काल तक जीवित रखने के लिए। यद्यपि कार्य-रूप मे यह वर्ण-व्यवस्था एक लम्बे काल तक जीवित रहनेवाली साबित हुई, पर कहीं न कही तो इसकी कमजोरी दिखती ही थी। ब्राह्मणो मे योद्धा हुए, क्षत्रियों में चाण्डाल हुए, वैश्यों में पण्डित हुए और शूद्रो मे पण्डित हुए। पर नियमो की एक प्रथा है, वे तोड़े-मरोड़े नहीं जा सकते; और उन्हें तोड़ना-मरोड़ना भी उचित नही है क्योंकि इससे अराजकता फैलती है, व्यवस्था नष्ट होती है।

पश्चिम में श्रेणी-भेद हुआ, संस्कृति के आधार पर नही बल्कि धन के आधार पर! धनवानों की एक श्रेणी बनी, निर्धनों की दूसरी श्रेणी बन गई। और जिसे उच्च संस्कृति कहते है वह स्वभावतः धनवानों के ही जिम्मे पड़ी—क्योंकि सांस्कृतिक विकास के साधन उनके पास थे।

समय-समय पर क्रान्तियाँ हुईं, और अन्त में समाजवाद

दुनिया के सामने आया। समाजवाद का पहला काम था विषमता को नष्ट करना, और विषमता नष्ट करने के लिए श्रेणी-भेद को मिटाना एक आवश्यक क़दम हो जाता है।

आज का समाजवादी श्रेणी-भेद को मिटाने में विश्वास करता है। इधर हाल मे मेरी कई समाजवादियों से मुलाक़ात हुई, और उनमे अधिकांश ने मुझसे कहा कि "हमें डी-क्लास होना पड़ेगा ! तुम डी-क्लास नही हो पाए !'

'डी क्लास' होने के अर्थ होते है पूर्व-रूप से श्रेणी-भेद को नष्ट कर लेना, आर्थिक दृष्टि से ही नहीं, सांस्कृतिक दृष्टि से भी।

इस बात को और भी स्पष्ट करना होगा। समाजवादियो के कथनानुसार-दुनिया मे मज़दूरों और किसानों की सब से अधिक संख्या है, और ये मज़दूर-किसान पीड़ित है, यानी अमीरों के उत्पीड़न के शिकार है। और चूंकि बहुमत मज़दूर किसानों का है लिहाज़ा शासन-व्यवस्था मे भी मज़दूरों-किसानो का पूरा-पूरा हाथ होना चाहिये। आज के वर्तमान समाज मे बहुत से ऐसे लोग उत्पन्न हो गए है जो कोई काम नही करते, जो दूसरो की मेहनत पर मौज उड़ाते है। ऐसे लोगो को नष्ट कर देना चाहिये, यदि वे लोग स्वयं अपने हाथो काम करके मज़दूरो-किसानों की श्रेणी में अपने को शामिल नहीं करते।

बात बिल्कुल ठीक है। हरेक आदमी को काम करना चाहिये। किसी भी आदमी को यह अधिकार नहीं है कि वह अपने को दूसरों से ऊँचा समझे, मानव-मात्र बराबर है। और

इसीलिए हरेक आदमी जो अपने को ऊँचा समझता है, मन से और कर्म से अपने को ऊँचा समझने की भावना छोड़कर साधारण कोटि मे आ जाना चाहिये। जब मैं कहता हूँ 'मन से' तब मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि यदि भेद-भाव विचारों में रहेगा तो कर्म मे कभी न कभी वह भेद-भाव प्रतिबिम्बित होगा; इसीलिए विचारों मे भी श्रेणी-भेद की भावना न होनी चाहिये।

तर्क सुन्दर हैं—और मुझे इन तर्कों पर सोचना ही पड़ता है। और अब इस समय, पूरी तौर से सोचने-विचारने के बाद मुझे इन तर्कों का दूसरा पहलू भी नज़र आ रहा है।

मैंने अपने से पूछा कि क्या मै एक मज़दूर की भाँति गन्दगी के साथ रहता हूँ? क्या उस कमरे मे, जिसमें दस मज़दूर रहते हैं, घुसते ही मेरा दम न घुटने लगेगा? क्या चरस, बीड़ी और महुए की शराब की बदबू जो उन मज़दूरों के रोम-रोम मे बस गई है—उससे मेरा जी न मिचलाने लगेगा?

मैं शायद एक साधारण मज़दूर से ज्यादा अभी नहीं हूँ। लेकिन फिर भी मैं रेल के तीसरे दर्जे मे सफर नहीं कर पाता। एक रात जागकर और बैठे रहकर बिताई जा सकती है, न जाने कितनी बार इस तरह मैने रातें बिता भी दी है, फिर भी आठ-दस रुपए अधिक देकर मैं इन्टर क्लास में चलना ज्यादा पसन्द करता हूँ। और उन आठ-दस रुपयों के अतिरिक्त खर्चे से मुझे असुविधा भी होती है। लेकिन इन्टर क्लास मे सफर करने का

एकमात्र कारण यह है कि मैं थर्ड-क्लास मे सफर करनेवालों के शरीर से तथा वस्त्रों से उठनेवाली दुर्गन्ध को बर्दाश्त नहीं कर सकता, उनकी बात-चीत मेरे कानों को असह्य हो जाती है, मुझे उस समय तक जबतक मै उनके साथ बैठा रहता हूँ घोर मानसिक एवं शारीरिक पीड़ा होती है।

अपने समाजवादी मित्रों के मतानुसार मैं 'डी-क्लास' नहीं हो सका हूँ मैं स्वीकार करता हूँ कि मैं हो भी नहीं सकूँगा।

और फिर सवाल उठता है कि 'डी-क्लास' होने की यह आवाज़ क्या वास्तव में खोखली नहीं है? क्या यह विकास के क्रम में बाधक नहीं है? क्या यह हमे सांस्कृतिक पतन की ओर खींचनेवाली नहीं है?

समता दो तरह से उत्पन्न की जा सकती है। एक तो स्वयं अपनी कोमलता तथा विकसित भावनाओं को नष्ट करके जन-साधारण से अपने को मिला लेने से। मेरे दो-एक मित्रों ने ऐसा किया भी है। सम्पन्न कुलों में वे उत्पन्न हुए है, लाड-प्यार में वे पले है। उन्होंने ऊँची से ऊँची शिक्षा भी पाई है। लेकिन मैं देखता हूँ कि आज वे ही लोग फटे चिथड़े पहने मज़दूरों के साथ रहते हैं, काम करते हैं। अकसर वे रास्ता चलते मिल गये हैं और मैं उन्हें पहचान तक नहीं सका हूँ—बाल बड़े-बड़े, हजामत बढ़ी हुई, कपड़े मैले-कुचैले। उनमे कोमलता नाम की कोई चीज़ ही नहीं रह गई। और उनके उस मनोविज्ञान का मैं

विश्लेषण नही कर पा रहा हूँ, शायद उन्होंने अपना जीवन एक कार्य-विशेष को समर्पित कर दिया है।

और दूसरी तरह से भी समता उत्पन्न की जा सकती है—जन-साधारण में कोमल तथा विकसित भावनाओं को जागृत करके, उन्हें पशुता की अवस्था से ऊपर उठाकर मानवता की ओर ले चलने से।

दूसरा उपाय कठिन है—वर्तमान व्यवस्था को देखते हुए। दूसरे उपाय के लिए शिक्षा की एक बृहत् योजना चाहिये। उच्च-श्रेणी से आए हुए ईमानदार कार्यकर्ताओं का एक बहुत बड़ा दम चाहिये, और सबसे बड़ी बात—एक लम्बा समय चाहिये।

दूसरा उपाय कठिन है—यह स्पष्ट है; लेकिन पहला उपाय अकल्याणकारी है और मनोवैज्ञानिक ढंग से असम्भव है!

सदियों के क्रमिक विकास के बाद कुछ थोड़े से लोग बर्बरता और पशुता से ऊपर उठकर विकसित हो सके है। सांस्कृतिक विकास द्वारा बनी हुई श्रेणियो को नष्ट करना असम्भव है। वे समाजवादी जो 'डी क्लास' होने पर ज़ोर देते हैं, मैं पूछता हूँ कि वे स्वयं 'डी क्लास' हो सके है?

आर्थिक नींव पर बना श्रेणी-भेद विकास के लिए अहितकर है, लेकिन सांस्कृतिक नींव पर बना हुआ श्रेणी-भेद विकास के लिए अवश्यम्भावी है—वह मिटाया जा ही नहीं सकता। पर दुर्भाग्यवश आज का सांस्कृतिक श्रेणी-भेद आर्थिक श्रेणी-भेद

से बुरी तरह सम्बद्ध है और इसीलिए सारी मुसीबत उठ खड़ी होती है।

मै अपने अनेक साहित्यिक मित्रों को जानता हूँ जो संस्कृति और शिक्षा मे बहुत ऊँचे है। लेकिन वे निपढ़ मूर्ख, घमण्डी और बदतमीज़ पूँजी-पतियों को अपने से ऊँचा आसन देते हैं, उनका आदर करते हैं, उनको मान देते हैं। मैं सोचता हूँ कि उन मज़दूरों के शरीर और कपड़ों से जो बदबू आती है क्या उसकी तुलना इन पूँजीपतियो की आत्मा की सग्न की वदबू से की जा सकती है? और मैं कहता हूँ कि उन साहित्यकारों मे मैं भी हूँ। अपने गत जीवन और वर्तमान जीवन पर जब मैं सोचता हूँ तब मुझे अपने ऊपर ही ग्लानि होने लगती है। मैंने अपने को कितना गिराया है—यही नहीं, इस समय भी मैं अपने को कितना गिरा रहा हूँ—यह सब आर्थिक विवशता के कारण ही।

और मैं समझता हूँ कि सांस्कृतिक श्रेणी-भेद उस समय तक सुसंगठित नहीं हो सकता जब तक वर्तमान आर्थिक विषमता मौजूद है, और जब तक सांस्कृतिक श्रेणी-भेद की रूप-रेखा स्पष्ट नहीं,तब तक आर्थिक श्रेणी-भेद ही नजरों के सामने लाएगा क्योंकि स्पष्टत: आज का सारा श्रेणी-भेद आर्थिक श्रेणी-भेद पर अवलम्बित है। और जब तक यह आर्थिक श्रेणी-भेद मौजूद है तब तक समाजवादियों की 'डी क्लास' होने की आवाज़ के ख़िलाफ़ कुछ कहा नहीं जा सकता।

हरखू की बरात

मेरे घर से कुछ दूर हटकर एक नाला है और उस नाले के इर्द-गिर्द कुछ झोपड़े हैं। नाले मे सैकड़ो कीड़े पैदा होते हैं बिलबिलाते हैं और मर जाते हैं।

उन झोपड़ो मे भी कुछ आदमी ठीक उस नाले के कीड़ो की तरह पैदा होते है, बिलबिलाते हैं और मर जाते है।

उन झोपड़ो मे रहनेवालों मे एक नौजवान है--उसका नाम है हरखू!

हरखू नौजवान है, केवल इसलिए कि उसकी उम्र बीस या बाईस साल की है। इसके अलावा उसमे और कोई ऐसा लक्षण नही है जिससे वह नौजवान कहा जा सके। उसका कद नाटा है, उसके शरीर पर केवल हड्डी है और चमड़ा है, उसकी आँखे पथराई हुई सी है, उसकी कमर झुक सी गई है। ऐसा मालूम होता है कि उसे बचपन से ही खाना नही मिला है, और उसकी बाढ़ मर गई है।

और मैं बरामदे मे बैठा हुआ देख रहा हूँ कि हरखू की बरात निकल रही है।

मैं अभी-अभी एक बरात से वापस लौटा हूँ। उस बरात में पाँच बैण्ड थे, दो सौ मोटरें थी, फुलवारी थी, आतिशबाजी थी। हजारों बराती इकट्ठा हुए थे, एक से एक कीमती कपड़े

पहने हुए। बर एक गोल-मटोल खूबसूरत-सा नवयुवक था और उसकी मोटर फूलों से सजी हुई थी। बर की मोटर को सजाने वाले फूलों की कीमत ही पचास-साठ रुपए रही होगी।

और इस समय मैं दूसरी बरात देख रहा हूँ। मुश्किल से दस-बारह आदमी, जिसमे अधिकांश नंगे पैर। बाजा के नाम पर एक हुड़क। और बर महोदय भी एक लाल चमरौधा पहने पैदल ही चल रहे है।

मै देख रहा हूँ कि हरखू और उसके बराती उतने ही प्रसन्न हैं जितने पहली बरात वाला बर और बराती थे। मै तो यहाँ तक कह सकता हूँ कि पहली बरातवाला बर थोड़ी-सी गमी मुद्रा भी बनाए था, शायद इसलिए कि ऐसे अवसरो पर अपनी प्रसन्नता को जाहिर करना सभ्य समाज मे अशिष्टता का चिह्न समझा जाता है। लेकिन हरखू हँस रहा है।

इस हरखू को मै कई महीनों से जानता हूँ। वह मेरे सामने वाले मकान में बरतन मलता है। गालियां सुनता है और कभी-कभी पिटता भी है। लेकिन गाली और मार का उसने कभी बुरा नहीं माना, शायद उसके अन्दर वाला जो बुरा मान सकता था, उसकी मृत्यु हो चुकी है, या फिर यों कहा जा सकता है कि उसके अन्दर बुरा मानने वाला कभी पैदा ही नहीं हुआ। वह आठ रुपया महीना पाता है, और सौदा सलूक में चोरी करके—जिसके कारण ही उसे अकसर मार खानी पड़ती है—वह महीने में दो-चार रुपया और बना लेता है। उसे साल मे

एक दिन की भी छुट्टी नही मिलती, छुट्टी वह तभी पा सकता है जब वह बीमार पड़े। और बीमार वह पड़ता नही। हाँ, उसे बुखार अकसर आ जाया करता है, लेकिन वह बुखार जूड़ी का होता है और अवसर पर मकान मालिक उसे अपने घर के एक कोने मे इसलिए जगह दे देता है कि बुखार उतर जाने पर वह चौका बरतन कर दे।

तो आज हरखू का विवाह हो रहा है और हरखू की बरात निकल रही है।

हरखू की बरात निकल जाती है, और मै सोचने लगता हूँ।

आखिर हरखू विवाह क्यो कर रहा है? कल से ही उसकी पत्नी को भी दूसरों का चौका-बरतन करना होगा। कल से ही हरखू और हरखू की बीबी मे गाली-गलौज होगी। हरखू अपनी बीबी को मारेगा, हरखू की बीबी उसे गालियाँ देगी।

उन झोपड़ो मे रोज़ ही यह हुआ करता है, हरखू और उसके भाई बन्दों के लिए वह स्वाभाविक है, उनके जीवन का एक भाग है। हरखू रोज यह देखता सुनता है। और मै सोच रहा हूँ सब कुछ देखते-सुनते हुए, जानते-बूझते हुए हरखू अपने लिए एक और नया नरक क्यो तैयार कर रहा है? क्या उसे उस नरक से संतोष नहीं जो उसके जीवन में अभी मौजूद है?

इसी समय मुझे हरखू की उस निर्जीव मुद्रा की याद आ जाती है जो मै रोज़ ही देखा करता हूँ। मैं सोचने लगता हूँ—

क्या हरखू के लिए कोई नरक है भी ? क्या उसमें इतनी चेतना है कि वह अपने जीवन के नरक को देख सके ?

जहाँ तक मेरा अनुमान है, हरखू यह भी नहीं जानता कि स्वर्ग क्या है। जिन्दगी मे उसे स्वर्ग देखने का, उस स्वर्ग को अनुभव करने का कभी कोई अवसर ही नहीं मिला। और जब वह स्वर्ग नहीं जानता तब वह नरक कैसे जान सकता है ? यह जो कुछ है, जिसे मै उसके जीवन का नरक समझता हूँ। यदि उसके जीवन का अस्तित्व है। उसके लिए यह न स्वर्ग है न नरक है, यही उसका जीवन है।

हरखू की बरात निकल रही है—कितने ही हरखुओं की बराते निकल चुकी है, कितने ही हरखुओं की बरातें निकलने वाली हैं। यदि ये बराते न होतीं तो ये हरखू भी न होते।

लेकिन कुछ समझ मे नही आता। आखिर हरखू भी तो मनुष्य है, इसी पृथ्वी पर रहने वाला। वही चेतना, वही आत्मा, वही हाड़-मास, वही रहा जो हम सब मे है वही हरखू में भी है। तो फिर इतनी विषमता क्यों ? उधर इस बरात मे सैकड़ों मोटरे, बैण्ड, आतिशबाजी, फुलवारी और इधर इस बरात मे लोग पैदल--चिथड़े पहने हुए, ग़रीबी मे चूर।

"यह सब क्यो ?" मै झुझला पड़ता हूँ। 'इस सबको किसने बनाया है ?' मै पूछ रहा हूँ—ठीक उसी तरह जिस तरह आज की समस्याओं में उलझा हुआ हरेक आदमी पूछता है। और

ठीक उसी तरह मुझे उत्तर भी मिलता है, इस सबको हमने बनाया है—हम मनुष्यो ने।'

लेकिन दूसरों मे और मुझमें कुछ अन्तर है। दूसरे दोष देते हैं उत्पीड़ित करने वालों को, लेकिन मेरी तबीयत नहीं होती कि मैं उत्पीडित करने वालों को दोप दूँ। मै तो समझता हूँ कि दोषी हैं उत्पीडित होनेवाले। अगर आज ये उत्पीडित होने वाले यह तै कर लें कि वे दूसरों के उत्पीड़न का शिकार न बनेंगे तो देखे कि उन्हें कौन उत्पीडित कर सकता है।

और यहाँ फिर एक समस्या उठ खड़ी होती है। मै जानता हूँ कि मनुष्य मे यह दृढ़ता हो सकती है कि वह उत्पीड़ित होने से इनकार कर दे। लेकिन उत्पीड़ित होने से इनकार करने के लिए मनुष्य में यह ज्ञान होना नितान्त आवश्यक है कि आत्मा की मृत्यु की अपेक्षा शरीर की मृत्यु कहीं अच्छी है। उन्हें यह जान लेना चाहिये कि उत्पीड़न को बर्दाश्त करके वे अपने शरीर की रक्षा भले ही कर ले, लेकिन वे अपनी आत्मा की हत्या हो जाने देते हैं।

मै पूछ रहा हूँ कि दुनिया मे कितने आदमी हैं जिनमे यह ज्ञान है और जो इस ज्ञान पर अमल करते हैं! मैंने बड़े-बड़े, पढ़े-लिखे, सम्पन्न आदमी देखे हैं—ऐसे आदमी हैं जो समाज मे प्रतिष्ठित समझे जाते हैं, मान्य हैं जो स्वयं उत्पीड़क कहलाते हैं। और जब मैं उन लोगों की आत्मा को देखता हूँ तो मेरे दिल को एक भयानक ठेस-सी लगती है। इनमें से हरएक आदमी

की आत्मा भयानक-रूप से विकृत हो चुकी है—प्रायः मर सी चुकी है। धन ने इनकी आत्माको नष्ट कर दिया है, यह उत्पीड़क स्वयं धन के पिशाच द्वारा किस बुरी तरह उत्पीड़ित है।

हमे शिक्षा की आवश्यकता है, उस शिक्षा की नहीं जो हमें नित्य ही मिला करती है क्योंकि वह शिक्षा केवल अक्षर-ज्ञान और शब्द-ज्ञान है। हमें उस शिक्षा की आवश्यकता है जिससे हमें अपना ज्ञान हो, अपनी आत्मा का ज्ञान हो।

शिक्षकों को कमी नहीं। नए-नए सिद्धान्तों को लेकर नित्य ही अनेक शिक्षक पैदा होते हैं, और समस्याओं का निदान भी बतलाते हैं। लेकिन वे समस्याओं को ठीक तरह से समझ नहीं पाते क्योंकि स्वयं उन्होंने ठीक तरह की शिक्षा नहीं पाई। उनमें आत्मज्ञान नहीं है, आत्मानुभूति नही है। हमें जरूरत है उन लोगों की जो दूसरो को शिक्षा न देकर स्वयं अपने को समझने की कोशिश करें, स्वयं आत्मानुभूति करें।

——

अहम का विकास

'आज दो सज्जनो से मेरी जो बातचीत हुई उसने मुझे एक अजीब चक्कर में डाल रक्खा है। एक सज्जन एक नवयुवक कवि हैं। वे घर के सम्पन्न आदमी हैं, उनकी पुस्तक अभी हाल में ही प्रकाशित हुई है और उन्हें अपनी पुस्तक की प्रशंसा मे आज सुबह दो पत्र मिले थे। एक पत्र हिन्दी के एक सुविख्यात आलोचक का था, दूसरा पत्र किसी महिला का था जो उनकी कविता पढ़कर इतनी प्रभावित हुई थीं कि वह कवि को पत्र लिखकर बधाई देने का लोभ संवरण नहीं कर सकीं। स्वभावत' कवि महोदय प्रसन्न थे—और अपनी इस प्रसन्नता की झोंक में आकर उन्होंने मुझे एक मशहूर होटल में ले जाकर चाय पिलाई और फिर अपनी कार पर बिठा कर वे मुझे घुमाने ले गए। उस समय सूर्यास्त हो रहा था और गंगा के पुल पर से मोटर जा रही थी। उन नवयुवक कवि ने उस समय मुझसे कहा था, "वर्माजी! कितना सुन्दर दृश्य है! प्रकृति की सुषमा निखरी पड़ती है। लेकिन हमारे पास इस सौन्दर्य को देखने का समय नहीं है, प्रकृति के इस वैभव का हम उपभोग नहीं कर पाते!" और इतना कहकर वे हँस पड़े थे।

उन कवि महोदय ने मुझे अपने आफिस मे उतार दिया, दूसरे दिन मेरा पत्र निकलने वाला था, और आखिरी फर्मे

के प्रूफ वगैरह मुझे देखने थे। दफ्तर मे देखता क्या हूँ कि एक सज्जन बैठे हुए मेरी प्रतीक्षा कर रहे हैं। ये सज्जन एक प्रसिद्ध लेखक हैं, काफी वयस्क और सुलझे हुए। एक लम्बी गृहस्थी का भार इनके ऊपर है और इधर कई महीनों से वे बेकार हैं। उनकी बातचीत से मुझे पता लगा कि उनकी पत्नी बीमार हैं, और पत्नी का इलाज कराने के लिए उनके पास पैसे नही है। दिनभर पैसों की तलाश करते रहे, लेकिन हर जगह उन्हें निराशा मिली और दिनभर उन्होंने खाना भी नही खाया।

दफ्तर से वे मेरे साथ ही चले। हम दोनों पैदल चल रहे थे और वे कह रहे थे, "यह दुनिया कितनी कुरूप है—कितनी दुखी है। चारों ओर रोना ही रोना है। मुझे ताज्जुब होता है कि लोग हस किस प्रकार सकते हैं ?"

और इस समय मै सोच रहा हूँ कि किसकी बात ठीक है ? उस सम्पन्न नवयुवक कवि की या उस बेकार प्रसिद्ध लेखक की ? दोनों ने एक दूसरे की विरोध बात कही थी, और दोनों ने वही बात कही थी जिसका उन्होंने स्वयं अनुभव किया था। फिर भी जिस दुनिया के सम्बन्ध मे ये बातें कही गयी थीं वह तो एक है। यह दुनिया सुन्दर है—यह दुनिया कुरूप है; इस दुनिया मे हँसी है, इस दुनिया मे रुदन है।

इस समय मुझे तुलसीदास की एक चौपाई याद हो आई जो उन्होंने रामचन्द्र जी के रूप के सम्बन्ध मे कही थी लेकिन जो दुनिया पर भी लागू होती है :—

"जाकी रही भावना जैसी। प्रभु-मूरत देखी तिन तैसी ॥"

इस स्थान पर मैं कहूँगा—"जाकी रही भावना जैसी, यह दुनिया देखी तिन तैसी।"—और मैं एकाएक कह उठता हूँ, यह दुनिया वैसी है जैसी उसे देखनेवाला देखता है।

एकाएक मेरे मन में एक प्रश्न उठता है, "क्या यह सम्भव है कि कोई आदमी दुनिया की असलियत को देख सके—समभाव से दुनिया की सुन्दरता और कुरूपता को निश्चित कर सके?" जो आप भी दुनिया का है वह दुनिया से सम्बद्ध है, उसके सुख-दुख दुनिया से बँधे हुए हैं, दुनिया के विषय मे सही निर्णय देना उसके लिए असम्भव है। दुनिया को सही तरीक़े से देखने के लिए यह आवश्यक होगा कि दुनिया से ऊपर उठा जाय और दुनिया मे रहते हुए दुनिया से ऊपर उठना सम्भव नही।

इस कमरे मे बैठा हुआ मैं कह उठता हूँ, "यह सब ग़लत बात! सत्य वह है जो कुछ मैं देखता हूँ, अनुभव करता हूँ। दूसरे भी अनुभव करते हैं, देखते हैं—पर उससे मुझे क्या? जबतक मैं देख सकता हूँ, मै अनुभव करता हूँ तबतक यह दुनिया है; और उसके बाद एक गहन अन्धकार!"

यह मै क्या कह गया? जो कुछ मैंने कहा उसके अर्थ तो यह होते हैं कि मैं सत्य हूँ और नित्य हूँ, बाकी सब मिथ्या है। क्या मै कहना चाहता हूँ कि जो कुछ है वह मैं हूँ, मेरे ऊपर, मुझसे अलग कोई चीज़ नहीं है। मै सोचता हूँ और मै इस निर्णय पर पहुँचता हूँ कि मैं यही कह रहा हूँ! जो कुछ है वह

मै हूँ, मुझसे अलग कोई चीज़ नहीं है। हरेक आदमी पर यही बात लागू होती है, हरेक आदमी का अहम उसके लिए सत्य है और नित्य है। जो यह कहता है वह अहम के ऊपर उठ चुका है या उठ सकता है वह या तो दुनिया को धोखा देता है या फिर अपने को धोखा देता है।

लेकिन मै यह सब क्या कह रहा हूँ और क्यों कह रहा हूँ? इस कमरे में बैठा हुआ मैं इस कमरे को अपना कह सकता हूँ, लेकिन मैं जानता हूँ कि कुछ समय पहले इस कमरे को कुछ ऐसे लोगों ने अपना कहा होगा जो आज मर चुके हैं और कुछ समय बाद इसी कमरे को कुछ ऐसे लोग अपना कहेंगे जिनका आज जन्म भी नहीं हुआ है। यह दुनिया स्थिर है—नश्वर है मनुष्य जो 'अहम' को लिये है।

"नश्वर है मनुष्य जो 'अहम' को लिये है!"—यह बात नई नहीं है; हरेक बड़ा विचारक यह कह गया है, हरेक धर्म में यह बात कही गई है! लेकिन अपनी नश्वरता की कल्पना करता हुआ और दुनिया की स्थिरता को अनुभव करता हुआ मैं इस बात को मानने से इनकार कर रहा हूँ! रह-रह कर मेरे अन्दर से कोई कह रहा है, " यह सब ग़लत है—मैं सत्य हूँ, मैं नित्य हूँ! मेरी आँखों के आगे जब तक यह दुनिया है तब तक इस दुनिया का अस्तित्व है और जब मेरी आँखो के आगे अन्धकार होगा तब सब कुछ अन्धकार होगा, शून्य होगा! यह दुनिया रहेगी— मैं नही कह सकता, कम से कम मेरे लिए तो नहीं रहेगी।

दूसरों के लिए रहेगी, यह मैं नहीं जानता—मैं दूसरा तो नहीं हूँ इसलिए मैं जान भी नहीं सकता।"

दुनिया का रूप वह है जो मैं देखता हूँ—एक यही सत्य है। इसी सत्य को आज मुझसे मिलनेवाले दो सज्जन कह गए हैं, इसी सत्य को हरेक आदमी उस समय प्रकट करता है जिस समय वह प्राकृतिक ढंग से बातें करता है, जिस समय वह ज्ञानी अथवा विचारक होने का दावा नहीं करता।

इसके बाद एक और भी जटिल प्रश्न मेरे सामने उठ खड़ा होता है। "अगर मै सत्य हूँ और नित्य हूँ तो मेरे कर्म भी सत्य हैं, प्राकृतिक हैं क्योंकि मेरा प्रत्येक कर्म 'अहम' की तुष्टि के लिए होता है। ऐसी हालत में मैं यह कैसे कह सकता हूँ कि मेरा कर्म भला है या बुरा है। यही नहीं, अगर दूसरे लोग मेरे कर्म को भला या बुरा कहते हैं तो वे ग़लत कहते हैं।"

लेकिन फिर भी दुनिया मे पाप है, पुण्य है; भला है, बुरा है। यही नही, दूसरे लोग हमारे कर्मों पर हमे दण्ड भी देते हैं, ताड़ित करते हैं। मेरे लिए जो कर्म प्राकृतिक है वह स्वभावतः पाप-पुण्य से परे है; पर दूसरे ऐसा मानने को तैयार नहीं। पग-पग पर हमारे सामने बाधाएँ उपस्थित होती हैं, 'अहम' को तुष्ट करनेवाले हमारे कर्मों का विरोध होता है। दूसरे हमारे 'अहम' को स्वीकार करने को तैयार नही क्योंकि दूसरे अपने निजी 'अहम' को स्वीकार करनेवाले होते है—उनके लिए तो उनका निजी 'अहम' सत्य है और नित्य है।

अपना हित अपना सत्य है—उसे मैं अस्वीकार नही कर सकता, क्योंकि दुनिया में हर तरफ मैं यही देखता हूँ। आज तक मैंने ऐसा आदमी नही देखा जो अपने 'अहम' के ऊपर उठ सका हो—आज तक मैंने ऐसा आदमी नही देखा जिसने अपनी इच्छा से ऐसा काम किया हो जिसमे उसे सुख न मिलता हो। ये बड़े-बड़े पुण्यात्मा, ये बड़े-बड़े दानी, जिनकी हम नित्य प्रशंसा करते हैं; इनकी असलियत मैं जानता हूँ। मैं कहता हूँ कि अगर इन्हें पुण्य करने मे सुख न मिलता, दान देने में सुख न मिलता तो यह सब ये कभी न करते। जो आदमी दूसरों के दर्द से द्रवित होकर अपना सब कुछ दे देता है, वह केवल इसलिए करता है कि वह अपने अन्दर वाली करुणा की भावना को तुष्ट करे। अपने 'अहम' की प्रेरणा से ही वह यह करता है। वह उपकार करता है क्योकि उपकार करने मे ही उसे सुख मिलता है, वह दान देता है क्योंकि दान देने मे ही उसे संतोप होता है। यह सुख और संतोष ठीक उसी तरह का है जैसा शराबी को शराब पीने से, जुवाँरी को जुआँ खेलने से अथवा क्रूर आदमी को दूसरो को सताने से प्राप्त होता है।

फिर इस पाप-पुण्य का महत्व क्या है? मैं सोच रहा हूँ। और अनायास ही मेरे अन्दर से कोई कहता है, "हाँ, मैं अपने लिए जीवित अवश्य हूँ, पर दूसरो से सम्बद्ध होकर जीवित हूँ। मेरे पास 'अहम' है, दूसरों के पास 'अहम' है और विभिन्न व्यक्तियों के 'अहम' मे संघर्ष है। संघर्ष विनाश है। लेकिन

'अहम' की भावना है आत्म-रक्षा। इस आत्म-रक्षा के लिए इस अस्तित्व की भावना को तुष्ट करने के लिए हमें कर्म करना है। हमारा प्रत्येक कर्म 'अहम' को तुष्ट करने को होता है और अस्तित्व की भावना 'अहम' की पहली भावना है। इसीलिए हमने पाप-पुण्य को स्वीकार किया है, इसीलिए हमने 'भला-बुरा' माना ताकि प्रत्येक आदमी 'अहम' को दूसरों के प्रहारोंसे सुरक्षित रख सके।

और यहीं हमें इस निर्णय पर पहुँचना पड़ता है कि सब का दिल हमारे उस समाज का सत्य है जिसे हम सबने अपनी रक्षा के लिए बनाया है। उस समाज का सत्य मानवता का सत्य है क्योंकि मनुष्य दूसरों से सम्बद्ध जीवित रहता है। यहाँ फिर एक सवाल उठता है, "क्या यह दूसरों का खयाल, दूसरों के प्रति अपना सद्भाव अपनी सुविधा के लिए भावना से प्रेरित है या हममे प्राकृतिक है?" उत्तर भी वही है, भावना हमारी है—हमारे अन्दर की है इसलिए प्राकृतिक है। दया, करुणा, त्याग, प्रेम—ये भावनाएँ हमारे अन्दर मौजूद हैं—इनका विकासभर हमारी सुविधा के लिए आवश्यक है।

मनुष्य का विकास मानवता का विकास है—यह उन भावनाओं का विकास है जो दूसरों से सम्बद्ध जीवित रहने मे हमें सहायक हो। पशुता को छोड़ने के अर्थ होते हैं पशुता की भावनाओं यानी क्रूरता, घृणा, लिप्सा आदि को छोड़ना मानवता का सत्य है दूसरों का 'हित'? और इसलिए यह मानते हुए ही कि जो कुछ है वह 'अहम' है, हम मानवता के विकास की ओर

बढ़ सकते हैं। 'अहम' को इतना विकसित कर लेना कि वह मानवता की आवश्यक भावनाओं को पूर्ण रूप से अपने में विकसित कर ले, 'अहम' के सत्य में मानवता के सत्य को भर ले—यही मानवता का विकास है।

'आज' दुनिया में इस बात को कहने वाले बहुत हैं कि प्रत्येक बुराई का कारण है 'अहम' का अस्तित्व। मैं उनकी बात समझ नहीं पाता। मैं पूछता हूँ "क्या 'अहम' नष्ट किया जा सकता है ?" दुनिया में कई स्थानों पर कुछ आदमियों ने दूसरों के 'अहम' को नष्ट करने के प्रयत्न किये हैं,इसमें वे किसी अंश तक सफल भी हुए हैं—'किसी अंश तक' इसलिए कि वे दूसरों के 'अहम' को पूर्ण रूप से नष्ट तो नहीं कर सके, नष्ट करना सम्भव भी नहीं है ; दबा अवश्य सके हैं,इस कदर दबा सके है। कि दूसरे पशु बन गए हैं। इस 'अहम' के अर्थ-विकास के कारण जो समस्याएँ उठ खड़ी थीं, जो संघर्ष पैदा हो गए थे, कुछ समय के लिए उनका निदान तो अवश्य हो गया है, पर इस सबका कितना बड़ा मूल्य चुकाना पड़ा है ? हमने यह सब मनुष्यता से नीचे गिरकर यानी पशुता को अपना कर किया है। और यह कब तक क़ायम रहेगा ? हम मनुष्य हैं, मनुष्यता का विकास अवश्यम्भावी है ! हमे फिर से प्रयत्न करना पड़ेगा। वे समस्याएँ जिन्हें सुलझाते-सुलझाते हम उनकी अन्तिम और सबसे कठिन गाँठों तक पहुँच चुके थे, अब फिर उलझ गई हैं। उन्हें फिर से हमें सुलझाना पड़ेगा।

बीमारी का कारण

एक दिन एकाएक मै बीमार पड़ गया। बीमार तो दुनिया पड़ा करती है, लेकिन दुनिया की बीमारी में और मेरी बीमारी मे कुछ अन्तर था। शाम को अच्छा-खासा था, जोरों के साथ बहस-मुबाहिसा कर रहा था; और सुबह जो उठा तो एक अजीब सी घबराहट और बदहवासी!

डाक्टर ने बतलाया कि तुम सोचते बहुत हो, फिक्र तुम पर सवार है, ज़रूरत से ज्यादा गम्भीर हो गए हो। और इसीलिए यह फ़िसाद पैदा हुआ है। उसने सलाह दी कि हँसा करो और मस्त रहा करो।

और मै सोच रहा हूँ कि मेरी वह सारी हँसी खुशी और मस्ती कहाँ गई? इधर कुछ दिनों से मुझमे यह महान परिवर्तन क्यों हो गया है? आज मुझे अपने चारो ओर सब कुछ खोखला-सा क्यों नज़र आता है?

इस पर मेरे कुछ मित्रों का कहना है कि मै सम्पादक बन गया हूँ? कुछ का कहना है कि मै अहिंसावादी बन गया हूँ!

इस मौके पर मुझे कुछ साल पहले की एक घटना याद हो आई। एक दिन सुबह के समय मै एक साप्ताहिक पत्र के दफ्तर में पहुँचा। दफ्तर में एक सज्जन लँगोट बाँधे दण्ड लगा रहे थे। ये सज्जन काफ़ी तगड़े थे और दाढ़ी, मूछ, सर सब कुछ बड़ी

सफाई के साथ घुटाए हुए थे। मुझे देखते ही बोले "कहिये किससे मिलना है ?"

"सम्पादक जी के दर्शन करना है।" मैंने उत्तर दिया।

"अच्छा, आप कुरसी पर बैठिये, सिर्फ़ पचास दण्डें बाक़ी हैं, पूरी करके सेवा में उपस्थित होता हूँ।"

मैं जैसे आसमान से गिरा। सम्पादक जी के उस रूप की मैंने कल्पना ही न की थी। कसरत समाप्त करके वे मुझे दर्शन देने उपस्थित हुए!

"कहिये, आप की क्या सेवा कर सकता हूँ?"

मै सकपकाया हुआ ता था ही, न जाने क्यों मै पूछ बैठा, "पहले मै यह जानना चाहता हूँ कि क्या आपकी इस कसरत का आपकी सम्पादकी से कोई सम्बन्ध है ?"

सम्पादक महोदय खिलखिला कर हँस पड़े, "अच्छा तो आप मेरा इन्टरव्यू लेने आए है! तो सुनिये, मेरा ऐसा खयाल है कि जो आदमी हृष्ट पुष्ट नहीं है वह सफल सम्पादक बन ही नहीं सकता।"

मुझे सम्पादक महोदय की बातों मे दिलचस्पी आने लगी थी, "यह कैसे ?"

"यह इसलिए कि एक सुयोग्य और ईमानदार सम्पादक को स्पष्ट-वक्ता होना चाहिये, और खरी बात सुनने को लोग तैयार नहीं। अफसर लोग डण्डा लेकर मेरे यहाँ जवाब तलब करने आते हैं, और ऐसी हालत में मुझे उनका उत्तर भी अपने

इस डण्डे से देना पड़ता है !" सम्पादक महोदय ने अपनी बग़ल में रक्खे हुए एक मोटे से डण्डे को—जैसा डण्डा कुछ दिन पहले प्रायः कट्टर आर्य समाजियों के हाथ मे देखा जाता था—दिखाते हुए कहा, "और मैं कहता हूँ कि इस दण्डे को धारण करने के लिए मनुष्य मे बाहुबल भी चाहिए। आप यह समझ लें कि दो-चार आदमियों से तो मैं अकेले निहत्थे निपट सकता हूँ, डण्डे की आवश्यकता तो तब पड़ती है जब दस-पाँच आदमी हो।"

थोड़ी देर चुप रहकर सम्पादक महोदय ने फिर कहा, "और आप पूछ सकते हैं कि मैने दाढ़ी, मूछ और सर क्यों घुटवा रक्खा है, तो इसका भी क़िस्सा आप सुन लीजिये। एक बार एक देवी जी पधारी, और बिना कुछ कहे-सुने उन्होने मेरे लम्बे घुँघराले बालों को पकड़ कर नोचना शुरू कर दिया। ग़ज़ब की औरत थी, सर के चौथाई बाल और आधी मूछ उसने उखाड़ दी। उसी दिन से दाढ़ी, मोछ, सर सभी कुछ घुटाना शुरू कर दिया ताकि दुश्मन को बेजातौर से वार करने का कोई मौका ही न मिले।"

उस दिन तो मैंने उस सम्पादक को सनकी समझा था, लेकिन आज देखता हूँ कि बात उसने पते की कही थी। सम्पादकी करना वाकई बड़ा कठिन काम है। सफल सम्पादक तभी बना जा सकता है जब मनुष्य मार खाने पर और मारने पर आमादा हो जाय।

लेकिन आदमी मैं शरीफ हूं, मार-पीट मैंने एक अरसा हुआ छोड़ दी। और सम्पादकी मुझे करनी है। लिहाज़ा केवल एक उपाय नज़र आया—अहिंसावादी बना जाय।

कहीं लोग यह न समझ बैठें कि मै अहिंसावादी महज़ सुविधा के लिए बन गया हूँ। कहा न, मारपीट मैंने एक अरसा हुआ छोड़ दी क्योंकि मारपीट को मै इन्सानियत के खिलाफ समझने लगा। मारपीट छोड़ने के बाद कुछ दिनो तक गाली-गलौज पर सब्र किया, लेकिन इस गाली-गलौल को मैने और भी इन्सानियत से गिरा पाया, और धीरे-धीरे मै मानवता को अपनाने का प्रयत्न करने लगा।

अहिंसावादी तो मै एक अरसे से धीरे-धीरे बन रहा था, लेकिन सम्पादकी का भार सम्हालते ही मुझे सोलह आना अहिंसावादी एक बार ही बन जाना पड़ा। इसका कारण यह था कि पत्र हाथ मे आते ही मुझे अपने विश्वासों को व्यक्त करने का मौक़ा मिला और विश्वासों को व्यक्त करने के साथ-साथ मेरी मानवता मुझे मजबूर करने लगी कि मुझे खुद अपनी ज़िन्दगी को अपने विश्वासों के अनुसार ढालना चाहिये।

और इसीलिए मुझे नर्वस-ब्रेकडाउन हो गया—यानी मै एकाएक बीमार पड़ गया।

तो अब यह सोच रहा हूँ कि थोड़े दिनों के लिए यह अपनी सारी गम्भीरता, अपनी सारी नेतागीरी, दुनिया को ऊपर उठाने का यह उत्तरदायित्व जो मैंने खुद-ब-खुद अपने

ऊपर लाद लिया है, ज़रा अलग रख दूँ और कुछ दिनों के लिए आ जाऊँ उसी पुरानी धजा पर।

लेकिन यहीं सारी मुसीबत पैदा हो जाती है। अपने विश्वासों को कैसे बदल लूँ? यह प्रश्न मेरे सामने है। मैं जानता हूँ कि मै पीछे नहीं जा सकता—पीछे जाना असम्भव है। एक-एक कदम चलकर मनुष्य मृत्यु के मुख मे जा रहा है, अगर वह एक कदम भी पीछे हट सकता तो वह अमर न बन जाता। आगे बढ़ना ही जीवन का क्रम है, संसृति का एकमात्र सत्य है।

आज मै अपने एक दोस्त से यही कह रहा था। मेरे वे मित्र अनुभवी और दुनियादार आदमी हैं गोकि उम्र में मुझसे क़ाफी छोटे हैं। उन्होने मुझसे साफ कहा, "आप अपने विश्वासों को कहिये प्रकट कीजिये, लेकिन करिये वह जो आपकी तबीअत मे आवे! करने से आपको कौन रोकता है?"

मैने कहा, "मै आपकी बात नही समझा, ज़रा और स्पष्ट कीजिये!"

और उन्होने बात स्पष्ट की, "बात यह है कि आज के जितने अहिसावादी नेता है उनमे अधिकांश ऊंची-ऊँची बातें कहते हैं। लेकिन जब इनकी जिन्दगी की तरफ नज़र डाली जाती है तब यह साधारण आदमियो की ही तरह गिरे हुए नज़र आते हैं। लेकिन फिर भी मान में और प्रतिष्ठा में आपसे कहीं ऊपर हैं!"

मैने अपने उन मित्र को यह समझाने की कोशिश की, कि मान और प्रतिष्ठा के लिए मै यह सब कुछ नही कर रहा हूँ, मान और प्रतिष्ठा की मुझे परवाह भी नहीं है। लेकिन मेरे उन मित्र को मेरी बाते जरा भी समझ मे नहीं आई।

लेकिन देखता हूँ कि मेरे मित्र की बातों मे यद्यपि सत्य नही है, पर वे बातें है किसी क़दर मार्के की। वे लोग जो कहते हैं, करते नही, और करने की परवाह भी नही करते, काफी सुखी है। उनका चारो ओर आदर होता है। उनका मान है, उनकी प्रतिष्ठा है। वे पैसेवाले है, वे सम्पन्न हैं। उनके घरों मे अभाव नहीं, दरिद्रता नहीं। हाँ, एक बात में मै अपने को उनसे ऊपर समझ सकता हूँ, और शायद समझता भी हूँ—वह यह कि सत्य मेरे साथ है। लेकिन यहाँ भी एक मुसीबत मेरे सामने उठ खड़ी होती है।

एक दफे की बात है—मै एक मैदान के पास से जा रहा था। उस मैदान मे भीड़ जमा थी, और उस भीड़ को देख कर मुझमें कौतूहल पैदा हुआ। यह देखने के लिए कि वहाँ क्या हो रहा है, मैं उस भीड़ की ओर बढ़ा। भीड़ के बीचो-बीच एक सज्जन खड़े थे और उनके पैरों पर कुछ अजीब-ग़रीब सामान रक्खा था—यानी आदमी की खोपड़ी, बन्दर की खोपड़ी, डमरू और न जाने क्या-क्या। वे कह रहे थे, "भाइयो। ये दोनो खोपड़ियाँ एक-दूसरे से बातें करेंगी!"

और वे डमरू बजा रहे थे। उस बाजीगरी के तमाशे को देखने के लिए मै भी खड़ा हो गया।

मदारी महोदय ने दोनो खोपड़ियों को दस कदम के फासिले पर आमने-सामने रख दिया, फिर उन खोपड़ियों पर कपड़ा उढ़ा दिया। इसके बाद वह बोले, "हज़राज ! दस मिनट बाद इन खोपड़ियों मे हरकत पैदा होगी और ये अपने ऊपर वाला कपड़ा खुद-ब-खुद हटा देगी। और फिर आप दुनिया का एक निहायत हैरत-अंगेज़ तमाशा देखेगे।"

इसके बाद उन्होंने अपने झोले से एक पोटली निकाली, पोटली खोलकर अपने सामने रक्खी, उससे जड़ी-बूटियाँ निकाल कर अपने सामने सजाई। फिर उन्होंने कहना आरम्भ किया, और हज़रात इस बीच मे मैं हज़रत लुकमान के कुछ नुस्खो को आपके सामने पेश करता हूँ। ये जड़ी-बूटियाँ खास हिमालय पहाड़ की है, बड़ी मुश्किल से पाई जाती है। ये जड़ी-बूटियाँ कमज़ोरी का शर्तिया इलाज हैं। हज़रत लुक़मान न यह बूटियाँ बादशाह फिरग के वास्ते ढूँढ़ी थी और बादशाह फिरंग ने हज़रत लुकमाने को दस करोड़ रुपए दिये थे। और एक मै हूँ कि आपके सामने ये आला नुस्खे मिट्टी-मोल पेश कर रहा हूँ। किसी तरह की सुस्ती, कमज़ोरी की शिकायत हो—एक हफ्ते मे शर्तिया अच्छी होती है। और कीमत सुनकर आप हैरत में आ जाएँगे। एक हफ्ते की चौदह खूराकें जिनकी क़ीमत सिर्फ साढ़े तीन आने। तीन आने मुझे दीजिये, दो

पैसे हज़रत लुक़मान का नाम लेकर खैरात कर दीजिये, वर्ना आपको फायदा न होगा। लुटा रहा हूँ हज़रात—दौलत, इज्जत, जवामर्दी—लूटिये, सिर्फ़ साढ़े तीन आने मे !"

मैं वहाँ क़रीब दो घण्टे खड़ा रहा, लेकिन न उन खोपड़ियो में कोई हरकत न हुई और न कोई बात चीत हुई। हाँ दो घण्टे मे उस मदारी ने करीब दस रुपए की दवाएँ ज़रूर बेंच लीं। भीड़ छट गई और उस मदारी ने अपना झोला सम्हाला। मैंने बढ़कर उससे कहा, "जनाब, इन खोपड़ियो मे तो कोई बात चीत नहीं हुई !"

मेरी बात सुनते ही वह हँस पड़ा, "अजी बाबू जी– वह तो भीड़ इकट्ठा करने का बहाना था। मै कोई मदारी थोड़े ही हूँ, मै तो दवा फ़रोश हूँ।"

मैंने उससे पूछा, "तो तुम्हें इस तरह काफी फायदा हो जाया करता होगा !"

मुसकराते हुए उसने कहा, "जी हाँ ! आपने देखा ही—आज साढ़े दस रुपए की दवा बेची है। इसमें मेरा खर्च हुआ - चार आना दवा के दाम और एक रुपया कुली का भाड़ा। बाकी बचत है।"

"लेकिन तुम्हारा यह रोजगार कब तक चलेगा ? आखिर लोग जानही जाएँगे कि तुम उन्हें धोखा देते हो।"

"अजी बाबू जी ! मैं तो घूमता-फिरता आदमी हूँ, और

यह दुनिया काफी बड़ी है। एक जगह सिर्फ एक दफे जाता हूँ, दूसरे दिन दूसरी जगह। रोज़ दस-पाँच रुपए पैदा कर लेता हूँ – दुनिया मे बेवकूफो की तादाद काफी है।" और यह कह कर वह मदारी वहाँ से चल दिया।

मै उस दवाफरोस की बाते सोच रहा हूँ। वह दुनिया को धोखा देता हुआ घूम रहा है लेकिन उसके दिल मे ज़रा भी दुःख नहीं, परिताप नही। और शायद वह आदमी यह समझता है कि भगवान ने दुनिया मे बेवकूफ आदमी इसलिए बनाए है कि बुद्धिमान आदमी उनको बेवकूफी का फायदा उठाएँ।

"बुद्धिमान आदमी बेवकूफो का फ़ायदा उठाएँ"—यह आज की सभ्यता और संस्कृति का सत्य है। ऐसी हालत मे मै यह कैसे कह दूँ कि वे नेता जो ढोंग का सहारा लेते है ग़लती पर हैं। यही मेरे सामने सारी मुसीबत खड़ी हो जाती है।

हाँ, एक बात और इस वक्त सूझ रही है। यह सारा सन्तोष, यह सारा सुख एक मानसिक स्थिति पर है। ज़रूरत तो सिर्फ इतनी है कि भर पेट खाना मिल जाय, शरीर ढाकने के लिए कपड़ा मिल जाय, और पैर फैलाने के लिए कुछ ज़मीन मिल जाय। इसके आगे की बात केवल मानसिक स्थिति की है। और इसलिए चीज़ों को मापने का पैमाना काम करनेवाले की मानसिक तुष्टि ही हो सकती है। दूसरों को सुखी देखकर सुखी होने की प्रवृत्ति हम में मौजूद है—स्वभाव से हम में दया है, ममता है, त्याग है, सद्भावना है। इन कल्याणकारी

भावनाओं द्वारा मानसिक तुष्टि न पाकर हम इधर-उधर क्यों भटकते है ?

लेकिन मैं फिर न जाने कहाँ-का-कहाँ बहक गया। इतना ऊल-जलूल लिखने के बाद बहक जाना स्वाभाविक ही है, और उस पर डाक्टरों का कहना है कि मै बीमार हूँ।

होली

कभी-कभी मै अपने को अनायास ही खो देता हूँ और कुछ सोचने लगता हूँ। उस समय सारी दुनिया मेरे सामने होती है, लेकिन मै अपने को उस दुनिया से कितना पृथक अनुभव करता हूँ !

और मै सच कहता हूँ उस समय मेरे प्राणो मे एक अजीब तरह की उदासी भर जाती है। उस समय मेरे सामने होती है पीड़ित विश्व की अर्ध-विकसित आत्मा। मैं समझ नही पाता, मैं तर्क नहीं कर पाता; मै लोगो को रोते देखता हूँ, हँसते देखता हूँ; और इस हँसने-रोने के बन्धनो से विमुक्त उस समय मैं अपने अन्दर एक भयानक उथल-पुथल का अनुभव करता हूँ--ऐसी उथल-पुथल जा प्राणों को असह्य सी हो जाती है।

मेरे कुछ आत्मीय मुझे सनकी और पागल समझते हैं, कुछ मित्रो को मुझ पर दया आती है और वे मुझे समझाते भी हैं। एक अनुभवी तत्वेत्ता ने मुझसे एक बार कहा था, "इस सोचने-विचारने मे है क्या ? इससे कोई लाभ नहीं। थोड़ा-सा सुख, थोड़ा-सा आनन्द जो तुम्हारे हिस्से मे पड़ा है, उसे भी तुम खोए देते हो। तुम स्वयम जानते हो कि इस

सोचने-विचारने से अन्दरवाली शान्ति ख़त्म हो जाती है। फिर इस सबसे फायदा ?"

मेरे उन अनुभवी मित्र ने जो कुछ कहा, वह ग़लत नहीं कहा। वास्तव मे वह थोड़ा-सा सुख, वह थोड़ा-सा आनन्द जो मेरे भाग मे था, उसे भी मैं खो रहा हूँ! खो रहा हूँ? नहीं—खो चुका हूँ! और उसे फिर से पा सकना अब मेरे लिए असम्भव है। कहीं कोई पीछे भी हट सका है? नही, मैं जानता हूँ कि मेरे लिए वापस लौटना असम्भव है। दुनिया के हास-विलास का खोखलापन मैं देख चुका हूँ। अब मेरे लिए खोखले-पन को भूलकर जबर्दस्ती उस हास विलास मे अपने को मिला देना असम्भव है।

अनुभवो ने मेरा यौवन मुझसे छीन लिया, और यौवन के साथ उन्होने छीन लीं मेरे सपनो की रंगीनियाँ, मेरी कामना की मादकता, मेरे जीवन की मस्ती। पर यहाँ भी शायद मैं ग़लती करता हूँ!

मैंने माना कि ज़िन्दगी के कटु अनुभवो का अम्बार मेरे सामने है। मैंने माना कि प्रत्येक कदम पर बाधाओं का मुकाबिला करते-करते एक कटुता मेरे अन्दर भर गई है। मैंने सब माना; लेकिन मैं यह मानने को ज़रा भी तैयार नही कि अपने अन्दर वाले परिवर्तन का मूल कारण अनुभवो की यह कटुता है।

आज होली का दिन है—वही होली का दिन जब लोग

अपने को एकदम भूलकर कुछ थोड़ी देर के लिए पागल बन जाते हैं। रंग और गुलाल उड़ता है, लोग भाँग और शराब पीते हैं और उसके बाद अश्लील से अश्लील गालियाँ बकते है। इस दिन मनुष्य थोड़ी देर के लिए नैतिकता और संस्कृति को तिलांजलि देकर न जाने किस सुख मे ग़र्क हो जाना चाहता है।

प्रथा के अनुसार आज सुबह मैं भी अपने घर से निकला, होली की रस्म अदा करने। लेकिन सच कहता हूँ, मन मे कोई उल्लास न था, मेरी आत्मा जैसे बैठी जा रही थी। सड़कों पर मैं घूम रहा था, लड़के मुझपर रग डाल रहे थे, और मै चुपचाप सोच रहा था।

रास्ते मे मेरे कई मित्र मिल गए। सब के सब सम्भ्रान्त आदमी अनुभवी और विद्वान। उनमे प्रोफेसर थे, डाक्टर थे, बड़े-बड़े अफसर थे। और वे लोग भी पागल हो रहे थे। कुछ लोगों ने भाँग पी रक्खी थी, कुछ ने शराब पी रक्खी थी, और जिन्होंने नहीं पी थी उन पर इन पिये हुए लोगों का रंग प्रतिबिम्बित था।

उन लोगों ने मुझे देखा, एक ने पूछा, "अरे! तुम्हें क्या हो गया जो तुम्हारे चेहरे पर मुर्दनी सी छाई हुई है?"

मैंने मुसकराने की कोशिश की, "कुछ नहीं; ऐसे ही, आज कुछ अच्छा नहीं लग रहा!"

उन सबो को आश्चर्य हुआ, एक-आध ने ता मेरे मत्थे पर

हाथ भी लगाया यह देखने के लिए कि कहीं मुझे बुखार तो नहीं आ गया है, या आनेवाला है। और एक-आध ने मुझे अपनी टोली का सदस्य बनाकर साथ ले चलने की ज़िद भी की। मैं किसी तरह अपने को बचाकर उन पागलों के बीच में से भागा जो मुझे पागल समझे हुए थे।

और सब कुछ देखते-सुनते मैं घूमता रहा—घूमता रहा। धूप तेज़ थी लेकिन मुझे उसकी चिन्ता न थी। मेरे प्राणों में न जाने कहाँ से आकर एक असह्य पीड़ा समा गई थी। और अन्त में मैं थक गया।

पास ही मेरे एक मित्र का घर था—वे हिन्दी के एक सुप्रसिद्ध नवयुवक कवि हैं! मुझे आशा तो नहीं थी कि वे घर पर होंगे, लेकिन फिर भी मैं उनके घर के अन्दर चला गया।

और वहाँ मैंने देखा कि वह नवयुवक दुनिया के हर्षोल्लास से दूर—बहुत दूर—अपने कमरे में अकेला बैठा कुछ सोच रहा है। मुझे देखते ही वह उठ खड़ा हुआ और मुसकराया। और उसकी उस मुसकराहट में कितनी करुणा थी, कितनी विवशता थी! उसने मुझसे कहा, "खूब होली खेली! लेकिन मैं इस कमरे में बैठा हूँ—अकेला, बन्द! कहीं बाहर जाने का भी तो जी नहीं चाहा!"

मैं बैठ गया। थोड़ी देर तक मैं उसे देखता रहा और वह मुझे देखता रहा। इसके बाद मैंने धीरे से कहा, "होली,

खेली तो नहीं, लेकिन लोगों को खेलते हुए देखा है जरूर। उफ ! यह सब कितना निरर्थक है, कितना खोखला है।"

उसी समय उसने एक कागज निकाला जिसपर उसने एक कविता लिखी थी।

और मैंने कविता पढ़ी ; एक बार नहीं—कई बार !

कविता मैंने रख कर उस नवयुवक को आश्चर्य से देखा। वह भी—वह भी कह सकता है :

वह भी एकाकी दार्शनिक बना हुआ अपनी आत्मा की असह पीड़ा को अनुभव कर रहा है। इस नवयुवक मे, जिसके सामने पूरी जिन्दगी है, जो युवा है—उसमे यह दर्द क्यो ?

वह कविता मैं अब भी याद कर लिया करता हू। मेरे भाव ठीक-ठीक उसमे प्रतिबिम्बित हैं, अधिक से गहराई और प्रखरता के साथ। मैं जिसे लिखने का प्रयत्न कर रहा था, जिसे ढूँढ़ रहा था उसने उसे लिख डाला, उसने उसे पा लिया।

मैं अनुभव करता हूँ यह उदासी, यह पीड़ा मुझे इस युग की देन है। यह हमारी आजवाली चेतना और विकसित विवेक का परिणाम है।

पर इस चेतना और विवेक को मैं क्या समझूँ—अभिशाप अथवा बरदान ? न जाने कितनी देर से मैं यह सोच रहा हूँ पर मुझे कोई उत्तर नहीं मिलता।

जी चाहता है कि इस चेतना को, इस विवेक को मैं एकदम

हमारी सार्थकता और सफलता की कसौटी केवल एक हो सकती है—दुनिया के दुख-दर्द को हम कहाँ तक दूर कर सके ? दुनिया को सुखी बनाने के लिए हमने क्या किया ?

और चेतना मुझसे कहती है कि आँसुओं के अथाह सागर का अगर एक बूँद भी तुम सुखा सके, आहों के बहुत बड़े अम्बार की एक आह भी तुम कम कर सके तो इसका सुख जिन्दगी भर हँसते रहने के सुख से कहीं अधिक है !

इस सब के बाद !

काश मै अपने को भूल सकता !

मानापमान और महत्वाकांक्षाओ के गुरुतर बोझ से दबा हुआ मै आगे बढ़ रहा हूँ, ठिठकता हुआ, कराहता हुआ, रेंगता हुआ ! बड़ी बड़ी मंज़िलें मैंने तै की हैं, लेकिन मैं देखता हूँ कि मै जहाँ था वहाँ से बहुत आगे नहीं बढ़ सका हूँ—जिसे मैंने मंज़िल समझा वह तो एक छोटा-सा क़दम था।

यह सारा ज्ञान, यह सारा अनुभव जिसका मैंने अपने विश्वास, अपनी भावना की अनमोल निधि देकर संचय किया है, मेरे लिए वरदान न बनकर एक भयानक अभिशाप बन गया है। वह ज़िन्दगी जो विकसित होने के लिए निर्मित हुई थी, जिसके ऊपर निर्मल अकाश है, जिसके चारो ओर सुगंधित पवन है–इस ज्ञान और अनुभव के खोखलेपन से मिलकर कराह उठती है। फूल हसती है, कली मुसकाती है। और मेरा ज्ञान रोता है। वह जीवन नही देखता, वह विकास नही देखता, वह देखता है ह्रास, वह देखता है मृत्यु !

× × ×

पता नही दूसरो को इस बात का यह अनुभव है कि नही पर मैंने इस बात को अच्छी तरह जाना है कि प्राणो की

थकावट क्या चीज़ होती है। सामने प्रकाश के रहते हुए भी अन्धकार के भयानक रूप को मैने देखा है, मैने अनुभव किया है कि दर्द किस तरह करवटे बदलता है।

मैं हँस नहीं सकता, इस बात का मुझे दुःख नही; दुःख मुझे इस बात का है कि मैं रो भी तो नहीं सकता।

हँसना अस्तित्व है, रोना अस्तित्व है। हसने और रोने से ऊपर उठने को लोग मुक्ति कहते हैं, और मै कहता हूँ कि वह अवश्य मुक्ति है यदि मुक्ति का दूसरा नाम मृत्यु है।

मानस मे एक असह्य सूनापन, ऐसा सूनापन कि दम घुटने लगे, इसको जिसने अनुभव किया है वही मेरी बात समझ सकता है। मानस के उस सूनेपन से लाख सर टकराओ, लाख उससे अलग हटने का प्रयत्न करो—सब बेकार ! मानस का वह सूनापन कराह उठता है, एक निर्जीव और ठंढे व्यंग की भाँति वह चीख़ पड़ता है; यही ज्ञान है, यही तुम्हारा सारा अस्तित्व है, यही वास्तविकता है !'

जीवन—ज़िन्दगी—लाइफ ! किलकारी भरते हुए बच्चे मे, हँसते-खेलते हुए नवयुवक में, अपने भरे-पूरे कुटुम्ब मे मग्न बूढ़े मे—इन सबों में मै जीवन देख रहा हूँ। क्या लखपती, क्या मज़दूर, क्या चोर, क्या साहूकार--इन सबों में जीवन है। एक मोह, एक ममता, एक इच्छा, एक चाह—इससे जो

बँधा है वही जीवन है। जो बन सकता है, बिगड़ सकता है, जो हँस सकता है, रो सकता है, वही जीवन है।

× × ×

कल पूर्णमासी थी—हवा मे एक हलकी-सी सिहरन थी। मै चल रहा था, सारा वातावरण सपने की रंगीनी से भरा हुआ था - मानो किसी ने सौरभ उडेल दिया हो, मधु छलका दिया हो। गंगा के किनारे किनारे विसुध-सा, भूला-सा मै चल रहा था।

और एकाएक मैं चौक पड़ा जब किसी ने बड़े करुण स्वर मे मुझसे कहा, "बाबू जी ! एक पैसा ! दिनभर का भूखा हूँ !" कितनी बेरहमी के साथ उस भिखारी की काँपती हुई आवाज़ ने मेरी सुन्दरता की दुनिया को उजाड़ दिया, एक झटके मे ही वह मुझे सपने की रंगीनी से वास्तविक कुरूपता मे खींच लाया।

मुझे याद नहीं कि मैंने उसे पैसा दिया था या नहीं, लेकिन मुझे इतना याद है कि मैं वहाँ से तेज़ी के साथ चल दिया था दुनिया के दुख-दर्द पर सोचते हुए ! और दुनिया के दुख-दर्द की तह मे था। मेरा निजी दुख-दर्द, मेरा संघर्ष, मेरी असफलता ! मैने अनुभव किया कि मैं स्वर्ग से नरक मे गिर पड़ा।

'पर यह नरक ही वास्तविकता है—स्वर्ग तो केवल एक कल्पना है !' मेरा ज्ञान मुँह चिढ़ाते हुए मुझसे कह उठता है,

और इस ज्ञान से मुझे पराजय स्वीकार करना पड़ती है। 'मनुष्य अपने से ही हारता है'—इस कहावत के सत्य को मै अनुभव कर रहा हूँ ! यह ज्ञान ही तो मेरा सारा अस्तित्व बन चुका है—मैं इसे अपने से अनुभव कर ही नहीं सकता !

आज एक अरसा हो गया है जी खोल कर हँसे हुए और शायद जी खोलकर रोए हुए भी ! एक पत्थर की तरह हो गया हूँ दूसरो के प्रहार सहते-सहते। और अब सब कुछ जान गया हूँ, सब कुछ समझ गया हूँ ! सभी बातो पर मुसकरा देता हूँ, लेकिन उस मुसकराहट की वास्तविकता को मै ही जानता हूँ ! कितना भयानक व्यंग भरा होता है उस मुसकराहट मे, उस मुसकराहट मे मेरी आत्मा की भयानक चीत्कार प्रतिबिम्बित है। पर लोग समझ नही सकते।

× × ×

मैं दार्शनिक बन गया हूँ, और दर्शन निराशावाद है—ऐसा मुझे लगता है। जब जीवन की अन्य बातो मे रुचि नहीं रह जाती तब मनुष्य दर्शन की शरण लेता है। लोगो का कहना है कि जीवन की असफलता मनुष्य को दार्शनिक बना देती है। दूसरे दार्शनिको पर यह बात लागू होती हो या न हो, पर मैं तो मानता हूँ कि मेरे दार्शनिक बनने के तह मे मेरी असफलता और निराशा अवश्य रही है।

अभी तक एक बात नहीं हुई, वह यह कि नेकी पर मेरा विश्वास अभी तक नहीं मिटा, वैसा का वैसा बना हुआ है।

जिस दिन नेकी पर मेरा विश्वास मिट जायगा उस दिन मैं समझ लूँगा कि मैं मर चुका। अभी मैं प्राय जिन्दगी का अनुभव कर लेता हूँ, खुद न हँसकर बल्कि दूसरों को हँसता देख कर।

× × ×

तो कभी-कभी इच्छा होती है कि मैं अपने इस ज्ञान, इस अनुभव के भार को अपने ऊपर से उतार कर फेंक दूँ, और दौड़ूँ खुली हवा में, खुली धूप में, बनों में, पर्वतों पर। लेकिन बुरी तरह जकड़ा हुआ हूँ अपने बन्धनों से। यह ज्ञान और यह अनुभव—ये मुझसे कहीं अधिक शक्तिशाली हैं। मैंने इन्हें नहीं पाया, ये मुझे पा गए हैं, और एक बार पाकर ये मुझपर सवार हो गए हैं, मुझे बुरी तरह रगड़ रहे हैं। इन्होने मेरे अन्दर से सारी भावनाओं को निकाल बाहर किया है, इन्होंने मेरी बस्ती उजाड़ दी है। और अपने अन्दरवाले उजाड़ मरुप्रदेश के सूनेपन से मैं टकरा रहा हूँ।

और टकराते हुए, लड़खड़ाते हुए, उठते हुए, गिरते हुए आगे बढ़ते रहना ही तो नियति का विधान है—अमिट और चिरन्तन ! इस विधान से सारी दुनिया जकड़ी हुई है विवश-सी। मनुष्य को आगे बढ़ते ही रहना है चाहे उसकी इच्छा हो या न हो, उसे मंजिलें पार करनी हैं यद्यपि उसका प्रत्येक कदम स्वयम एक मंजिल है।

× × ×

हाँ, लोग मुझे पागल समझ सकते हैं, कह भी सकते हैं। वे जो अपने को ज्ञानी समझते हैं, वे जो अपने को बुद्धिमान कहते हैं, मै उनसे पूछता हूँ कि क्या वे वास्तविकता को जानते हैं ? मैं विश्वास दिलाता हूँ कि वे सबके सब अपने-अपने सपने के संसार मे रहते हैं, वास्तविकता से दूर—बहुत दूर ! और इसीलिए वे मुझ पर हँस सकते हैं।

दूसरो के ऊपर हँसना बड़ा आसान काम है, बड़ा मुश्किल काम है अपने ऊपर हँस सकना ! अपने ऊपर जो हँस सकता है, वही ज्ञानी है, वही बुद्धिमान है !

× × ×

काश मैं अपने को भूल सकता !

बनना आसान है, मिटना कठिन है। जो स्वयम मिट सकता है वही अमर है, वही मुक्त है ! मै बना तो हूँ, मैने मिटना नहीं सीखा। इसी साधाना का मुझमे अभाव है !

दुनिया के सुख-दुख को मै समझने तो लगा हूँ, लेकिन दुनिया के सुख-दुख को मै अपना नही बना सका, उनमें मै अपने को तन्मय नहीं कर सका।

यह सारा ज्ञान जो मैने संचित किया है, उसमें एक कमो है—यह ज्ञान मेरे अहम की सीमा को नहीं मिटा सका। और यह सूनापन—यह सब इसलिए है कि "मै" मौजूद हूँ, सीमित, संकुचित, दुनिया से बिल्कुल अलग। जो टकराता है, जो तड़पता है वह मेरे सीमित और संकुचित अहम की अहम्मन्यता है।

कुछ ऐसा मालूम होता है कि भावना को, प्रेम को, दया को जिसने मेरे अन्दर पनपने नहीं दिया वह है मेरी अहम्मन्यता। अहम्मन्यता को मिटानेवाला ज्ञान वास्तविक मुक्ति है जहाँ मनुष्य स्वयम बन सकता है, स्वयम मिट सकता है। मै अपने को इसलिए नहीं भूल सकता कि मुझमें अहम्मन्यता है, मुझमे मानापमान है, मैं अपना और पराया समझता हूँ। मैंने ज्ञान पाया है, लेकिन मैंने ज्ञान पाने की साधना नही की है। कीचड़ में पड़े हुए हीरे की भाँति मैंने उस धुँधले और विकृत ज्ञान को उठा लिया है।

और मैं देख रहा हूँ कि बिना साधना मै अपनी अहम्मन्यता को दूर नही कर सकता। उस दिन जब मैं अपनी अहम्मन्यता को अपने दूर कर सकूँगा, मै विशुद्ध और निर्मल ज्ञान प्राप्त कर लूँगा, उस दिन वास्तव मे मैं अपने को भूल जाऊँगा, उस दिन मैं मुक्त हो जाऊँगा।